पंचास्तिकाय प्रवचन द्वितीय भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 001

Contents

प्रकाशकीय 3

गाथा २७ 4

गाथा २८ 14

गाथा २९ 22

गाथा ३० 25

गाथा ३१–३२ 28

गाथा ३३ 32

गाथा ३४ 35

गाथा ३५ 38

गाथा ३६ 42

गाथा ३७ 45

गाथा ३८ 49

गाथा ३९ 52

गाथा ४० 53

गाथा ४१ 55

गाथा ४२ 59

गाथा ४३ 61

गाथा ४४ 66

गाथा ४५ 67

गाथा ४६ 70

गाथा ४७ 72

गाथा ४८ 73

गाथा ४९ 75

गाथा ५० 77

गाथा ५१–५२ 78

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक **'पंचास्तिकाय प्रवचन द्वितीय भाग'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यावहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक कोशीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें **गाथा २७** से **गाथा ५२** तक के प्रवचन प्रस्तुतहैं ।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है।ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सकें इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे । इसी ग्रन्थ की PDF फाइल http://is.gd/varniji पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री **संजयजी शाह, सीएटल, अमेरिका** के द्वारा रु. 2000/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर, इन्दौर** एवं प्रूफ चेक करने में **श्रीमती मनोरमाजी जैन, गांधीनगर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

पंचास्तिकाय प्रवचन द्वितीय भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी

गाथा २७

जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता ।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ।।२७।।

जीवद्रव्य के विशेष व्याख्यान का आशय—इस ग्रन्थ में पंचअस्तिकायों का वर्णन है, जिसकी भूमिका में ५ अस्तिकायों का वर्णन कर दिया गया है । उन्हीं अस्तिकायों में से उनका ही अब विशेष वर्णन चलेगा । समस्त द्रव्यों में प्रयोजनीभूत पदार्थ है जीवद्रव्य । हम आप सब जीव हैं । जीव की ही समस्या सुलझाने के लिए हम अन्य समस्त पदार्थों का भी ज्ञान किया करते हैं । कोई पुरुष अन्य पदार्थों का तो खूब परिचय करे और एक अपने आपका परिचय न करे तो उसने ज्ञान का प्रयोजन और लक्ष्य ही नहीं पाया । कोई पुरुष समस्त अचेतन का भी वर्णन सीख जाय, जीवद्रव्य की बातें करने लगे, किन्तु अपने आपका स्वरूप नहीं समझे तो उसने कुछ नहीं किया । अंतस्तत्त्व का ज्ञान करना—यह ज्ञान का प्रयोजन है । इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए विशेष व्याख्यानों में सर्वप्रथम जीवद्रव्य का वर्णन किया जा रहा है ।

चेतयिता—जीव कैसा है? जीव का लक्षण बताने के प्रसंग में एक व्यापक दृष्टि रखकर कहा जा रहा है । कुछ बातें संसारी आत्मा में घटित होंगी कुछ बातें मुक्त आत्मा में धटित होंगी, कुछ बातें संसारी और मुक्त जीवों का ख्याल न रखकर उनकी अपेक्षा न करके एक निरुपाधि स्वरूप का वर्णन होगा । यह जीव चेतयिता है, चेतने वाला है । इस चेतयितृत्व स्वरूप में न संसारी अवस्था को छुवा गया है और न मुक्त अवस्था को छुवा गया है । इसका सहजस्वरूप अपने आपकी सत्ता के कारण जो स्वरूप है वह है चेतन । यह जीव जब चैतन्यस्वरूप के परिचय में नहीं लगता है तब अपने को नाना विशिष्ट उपयोगरूप मानता रहता है और नाना विशेषतावों में फंस जाने से इसकी दुर्गति होती है, संसार में भ्रमण होता है ।

आत्मप्रसंग में सामान्य का महत्त्व—लोक में विशेष की इज्जत मानी गयी है, साधारण की नहीं, यह तो जनरल (general) बात है, इसमें क्या तत्त्व है, कोई स्पेशल बात कहो, लोक में स्पेशल की कदर है, सामान्य की इज्जत नहीं है, विशेष की इज्जत है । किन्तु आत्मकल्याण के मार्ग में विशेष की इज्जत नहीं है, सामान्य की इज्जत है । जब जीव की पर्यायों का वर्णन किया जाता है, मार्गणा आदि विशेषतावों का प्रतिपादन चलता है उस प्रसंग में जीव का स्वरूप समझने के लिए केवल इतना भी कह दिया जाता है कि देखो १ घंटे तक जो हमने कहा है ना, गतिमार्गणा, इन्द्रियमार्गणा, कायमार्गणा और जितना विस्तार कहा है ना, वह सब नहीं है, बस समझ लो वह जीव है । लो, विस्तार बताने में घंटों समय लगाया और जीव को कहने में एक अक्षर बोलना पड़ा । यह नहीं, उस ही के साथ कुछ सत् सामान्य तत्त्व उसकी दृष्टि में है, जिसको दृष्टि में रखकर उस समस्त को मना कर रहा है वह है चेतन सामान्य । देखो—एक शुद्ध आत्मा का आलम्बन लो, यों उपदेश में बोल लेते हैं ना या वस्तु पर्याय वस्तु का आलम्बन ले । पर्याय है विशेष और स्वभाव है सामान्य । आत्मकल्याण के मार्ग में सामान्य की पूछ है, विशेष की नहीं है । यह जीव चेतयिता है ।

जीवत्व का मंडन—भैया ! प्रथम तो यह ही देखिये । जीव है, है के समर्थन में बहुत से मर्म आ जाते हैं । यह आत्मा अथवा यह जीव है । शुद्ध निश्चय से देखा जाय तो ये चैतन्य अथवा ज्ञान आदिक सामान्यस्वरूप शुद्ध प्राणों से जीवित रहते हैं । अत: इसका नाम जीव है । शुद्ध दृष्टि में निरखा जा रहा है

कि जो शुद्ध चैतन्य प्राणों से जीवित रहे उसका नाम जीव है । यों तो एक दृष्टि में यों निहार सकते हैं कि जीव, आत्मा और परमात्मा । इन तीन शब्दों से हम एक इस चेतन को तीन पर्यायों में निरखते हैं । जीव के कहने से जो द्रव्य प्राणों से जीता है, जो भवों को धारण कर रहा है, जहाँ जीने व मरने का व्यवहार किया जाता है वह जीव है । यह जीवित है, अब यह मर गया है, ऐसा जीना जिसमें हो उसे जीव कहते हैं । ऐसा जीवन जिसका एक काम बन गया है वह जीव कहलाता है—बहिरात्मा । तो जीव शब्द से अर्थ लेना बहिरात्मा । और आत्मा का अर्थ है जो जाने सो आत्मा । जो व्यापकरूप से जाने उसे आत्मा कहते हैं, ऐसा होता है सम्यग्दृष्टि पुरुष । और परमात्मा कहते हैं उसे जो वीतराग सर्वज्ञ शुद्ध हो चुका हो । यों इन तीन शब्दों को जब हम इस ढंग से रखते हैं तो इन तीनों का आधारभूत जो तत्त्व है उसका नाम है ब्रह्म ।

ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा व जीव—इस आत्मा के ज्ञान के प्रकरण में चार चीजें समझिये—ब्रह्म, जीव, आत्मा और परमात्मा । ये चार बातें अन्य सम्प्रदायों में भी बहुत प्रसिद्ध हैं, लेकिन उनके ख्याल से जो इन चारों तत्त्वों का स्वरूप उनकी दृष्टि में आता है, उसे स्याद्वाद से लगाये तो इस प्रकार का रूपक बनता है कि ब्रह्म तो है एक चैतन्यस्वरूप जो समस्त पर्यायों में व्यापक है व एक स्वरूप है । जैसे किसी व्यक्ति की प्रशंसा करे कोई तो व्यक्ति का नाम न लेकर किसी भाव या विशेषता का नाम लेकर कहा जाता है । जैसे कोई प्रशंसा करता है—अमुकचंद ने समाज पर बहुत प्रभाव डाला है । अब अमुकचंद का नाम न लेकर यह भी कह सकते हैं कि इस धर्मात्मा की किरण ने समाज पर बड़ा प्रभाव डाला है । ऐसे ही जब हम व्यक्ति रूप में जीवों को न तके और एक चैतन्यस्वरूप के रूप से तके तब हमें वहाँ नानापन नजर न आयगा । अब यों यह ब्रह्म एक हो गया और सर्वव्यापक हो गया।

अद्वैत से द्वैत का प्रसार—उस एक ब्रह्म के जब हम भेदभाव में आते हैं, द्वैतभाव में आते हैं तो हमें जीव, आत्मा, परमात्मा—ये तीन शक्लें नजर आती हैं । यथार्थ ज्ञानी पुरुष जब एक सहजस्वरूप के परिचय में मग्न हो गया है तो वह अद्वैत बन गया है, उसके उपयोग में अद्वैत है, वह स्वयं निर्विकल्प है । अथवा जैसे अद्वैत निर्विकल्प तत्त्व के परिचय में लगा है, देख रहा है, यह केवल एक प्रकाशमात्र है । ठीक, जब उसका यह कुछ एक्सपोजीशन करने चला तो वहाँ द्वैत उत्पन्न हो गया । है तो यह प्रकाश, मगर प्रकाश का अर्थ क्या है? प्रकाशक और प्रकाश्य—ये दो बातें माने बिना प्रकाश का स्वरूप समझ में नहीं आता । अरे कोई प्रकाश करनेवाला है, कोई चीज प्रकाश में आ रही है, इतना ध्यान में न हो तो प्रकाश नाम किसका है? यों अब द्वैत में आया प्रकाशक और प्रकाश्य अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय । अब जब द्वैत का सिलसिला लग उठा है तो द्वैत में द्वैत फूट-फूटकर यह विकल्पों का जाल मच गया है । मूल में इसका एक ही स्वरूप है जो स्वयं निर्विकल्प और अद्वैत है ।

जीव का प्रकाश—यह जीव शुद्ध निश्चय से शुद्ध चैतन्यप्राण से जीवित है, अतएव जीव कहलाता है, और अशुद्ध निश्चय से ये क्षायोपशमिक ज्ञान आदिक प्राणों से जीता है इसलिए जीव कहलाता है, अथवा इन द्रव्य प्राणों से कोई जीवित था पहिले, वह जीव अब शुद्ध है तो भी वह जीव है । यों जीव शब्द की हम चतुर्मुखी दृष्टि बनाते हैं तो यह आत्मा नाना रूपों में प्रकट होने लगता है । यह जीव है, यह मैं हूँ, ऐसा कह-कहकर भी इसका भान नहीं कर पाते हैं । अन्य-अन्य पदार्थों में नाना भावों में मैं हूँ ऐसा कोई भान करे तो वह 'मैं' का भान नहीं कहलाता । जो मैं हूँ उसका ही भान बने तो मैं का भान समझियेगा। जगत के ये समागम मकान, महल, परिजन ये सब विनश्वर हैं, स्वयं मायारूप हैं, स्वयं ही सारभूत नहीं हैं, परमार्थ नहीं हैं । इनके समागम में मुग्ध होना और अपने आपके उस विशुद्ध स्वरूप को भूल जाना, यह अपना ही घात किया जा रहा है ।

विविक्तत्व के श्रद्धान की आवश्यकता—धर्म के प्रसंग में हम तब तक नहीं आ सकते हैं जब तक हम

अपने से भिन्न समस्त परपदार्थों का लगाव श्रद्धा में न छोड़ दें । हमारी श्रद्धा ऐसी निर्मल होनी चाहिए कि इस चैतन्यस्वरूप को छोड़कर अन्य परभाव मेरे विस्तार नहीं हैं । जब विभाव भी मेरे नहीं, तब अन्य प्रकट भिन्न चेतन अचेतन परपदार्थों की तो कहानी ही क्या हो? समयसार में बताया है कि परमाणुमात्र भी राग जिसके हो वह सम्यग्दृष्टि नहीं है । उसका प्रयोजन है श्रद्धा में, परमाणुमात्र भी राग जिसके हो अर्थात् रंच राग को भी जो अपना स्वरूप मानता हो कि यह मैं हूँ, वह पूरा अज्ञानी है, चाहे उसने बड़े-बड़े शास्त्रों का परिज्ञान कर लिया हो, लेकिन अपने आपके बारे में रंच राग आया हो, अपना हित, अपना महत्त्व माना हो वह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि जीव है ।

निर्मल स्वभाव के दर्शन बिना जीवन की विफलता—भैया ! श्रद्धा में तो अपने को निर्मल बना ही लो, अन्यथा यह मनुष्य भव पाना बेकार-सी बात रही । विषयों के भोग, मन की मौज सूकर कूकर, घोड़ा, हाथी अथवा बैल और-और कीड़े-मकोड़े, इन भवों में नहीं मिल रहे थे क्या? जितना प्रिय मनुष्यों को हलुवा पूड़ी होती होगी उतना ही प्रिय ऊँटों को नीम की पत्ती होती है । जो जिस भव में है उस भव के अनुकूल जो जितना भोजन है उसे वह ही प्रिय है । केचुवा आदिक कीटों को मिट्टी ही बहुत प्रिय लगती है । वे मिट्टी का भक्षण करके मौज मान रहे हैं । आज मिल गया इतना ठाठ, खान-पान का साधन तो यह क्या है ? मिट्टी की तरह है, कोई जीव मिट्टी को पसंद करते हैं । यहाँ दो पैरों पर खड़े होने वाले जानवरों ने हलुवा पूड़ी पसंद किया है । देखो सुनकर बुरा न मानना । जानवर कहलाता है वह, जो ज्ञान में श्रेष्ठ हो । जान मायने ज्ञान, वर मायने श्रेष्ठ । जिसके ज्ञान श्रेष्ठ हो उसका नाम जानवर है । जानवर शब्द उच्च है, किन्तु किसी मूर्ख आदमी को उच्च शब्द बोल दिया जाय तो वह शब्द गाली कहलाने लगता है ।

चेतना की व्यक्तियां—प्रकरण चल रहा है कि यह आत्मा चेतयिता है । चेतना तीन रूपों में होती है—ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना । चेतना का काम है सबका सम्वेदन करना । मैं हूँ, इस प्रकार की चेतना बनाये रहना चेतना का काम है । जो कोई जीव मैं एक शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ, इस प्रकार की चेतना करता है तो उसे कहते हैं ज्ञानचेतना वाला । कोई जीव अपनी करतूत में चेतना लाता है—ज्ञान के सिवाय अन्य जीवों का मैं कर्ता हूँ, इस प्रकार कर्तृत्व की बात लाता है तो उसे कहते हैं कर्मचेतना वाला । इस जीव ने अपने आपको कर्मरूप में, कर्मठ रूप में चेता । अथवा यह आत्मा इन कर्मोंरूप नहीं है, वह शुद्ध ज्ञानचेतना रूप है । इस कारण जो कर्मचेतना रखता है उसको अज्ञानी कहा गया है । कोई जीव अपने आपको भोगने के रूप में चेतता है, मैं विषय को भोगता हूँ । एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप के अतिरिक्त अन्य भावों को भोगने की बात जो चित्त में लाता है, चेतता है उसे कहते हैं कर्मफलचेतना वाला । चेतना की बात चूंकि जीव में ही हो सकती है, अतएव इसे चेतयिता कहते हैं।

उपयोगविशेषितता—पूर्व भूमिका में छहों द्रव्यों का वर्णन था और वह सामान्य रूप से था । जो बात सबमें घटित हो वह बात कही गयी थी । अब इस प्रसंग में जीवतत्त्व की बात कह रहे हैं । यह जीव है, यह जीव चेतयिता है और यह उपयोग विशेषित है, उपयोग नाम है यूज का, प्रयोग करने का । ज्ञानशक्ति है तो ज्ञानशक्ति को काम में लाना, इसका नाम है उपयोग । अब जो जीव जिस प्रकार के उपादान वाला है वह अपनी ज्ञानशक्ति का उस प्रकार से उपयोग करता है और यों इसके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये ५ भेद हो जाते हैं । इन पाँचों में निश्चय से तो यह केवलज्ञानरूप उपयोग से विशेषित है और अशुद्ध निश्चय से मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय—इन चार क्षायोपशमिक उपयोगों से विशेषित है । यह जीव है, चैतन्यशक्ति वाला है, और इस चैतन्यशक्ति का कुछ न कुछ उपयोग प्रतिसमय बनाये रहता है ।

जीव की निर्नामता—यह मैं जीव हूं, मुझ जीव में कोई नाम नहीं खुदा है, सब लोग सोच लो । जो आज नाम रक्खा है किसी ने, किसी दिन रख दिया है? कदाचित् इन शब्दों का नाम न रक्खा होता, कोई

दूसरा नाम होता तो कोई उस में यह बाधा आती थी क्या कि यह नाम फिट नहीं बैठता और कुछ नाम धर दो । इसका तो जो नाम धर देते हैं उसी को फिट बैठाने की आदत है । अर्थात् उस प्रकार का व्यामोह है । कोई नाम का सम्बन्ध नहीं है इस जीव के साथ । यह तो है एक जीव । जिसमें कि इस प्रकार का उपयोग चलता है, रागद्वेष मोह परिणाम चलते हैं ऐसा है यह । इसका नाम जो रखना है रख दीजिए ।

प्रभुता—यह आत्मा प्रभु है । प्रभु किसे कहते हैं? प्रकृष्ट रूपेण भवति इति प्रभु: । प्र मायने बड़ी तेजी से भू मायने होवे उसका नाम प्रभु है । यह जीव प्रभु है । इसमें बड़ी सामर्थ्य है । यह शुद्धता की ओर जाय तो अपना इतना चमत्कार फैलाता है कि तीन लोक, तीन काल के समस्त पदार्थों को एक समय में एक साथ स्पष्ट जान जाता है । है ना बहुत बड़ा चमत्कार, और यह जीव जब बिगड़ता है तो बहुत बड़ा प्रभाव फैलाता है । न जाने क्या से क्या कर डालें । तो यह जीव प्रभु जब बिगड़ता है और बिगड़कर मानो किसी विशाल वृक्ष के रूप को अंगीकार करता है तो तने-तने में, पत्ते-पत्ते में प्रत्येक लतावों में और कैसी-कैसी ऊटपटाँग डालियों में फैल जाता है । कोई कुछ ढंग है क्या फैलाने का? किसी भी तरह फैल जावे । उनके फूल और फूलों में भी जो मकरकंद होता है तंतु की तरह बिल्कुल पतला, ऐसे इन तंतुवों में इन सबमें यह एक ही जीव कैसा फैल जाता है? यह क्या कम चमत्कार है । यह बिगड़ता है तो ऐसे-ऐसे चमत्कार दिखाता है और जब यह सम्हलता है तो केवलज्ञान जैसा चमत्कार दिखाता है ।

बाहरी बहादुरी—यह जीव प्रभु है । एक तरह से देखो, चाहे मजाक की दृष्टि समझ लो और चाहे एक विशेष चिन्तना की दृष्टि समझ लो । सिद्ध भगवान बनकर जो चमत्कार फैलाया, उसमें उनकी क्या तारीफ है? वह तो उनका स्वरूप है । सीधी-सी बात है, सीधा सा खेल है वह तो । केवलज्ञानी होना, लोकाकाश का प्रकाश करना, यह तो सीधा सा खेल है । स्थावर बनकर नाना तरह के त्रस बनकर ढंग-बेढंगे शरीरों को धारण कर, नाना प्रकार के भव पाकर अपना विचित्र विस्तार बनाया, बहादुरी तो इसमें है जीव की । सिद्ध बन गये सीधे-सादे, जैसा स्वरूप है तैसे बन गये, स्वाधीन हो गये, अकेले रह गये, इससे ज्यादा बढ़ाई की बात तो इसमें होगी ना (हँसी) । संसार के प्रत्येक प्रदेश पर यह जन्म लेता है, मरण करता है, इतना सफर कर रहा है और इतनी तरह के विचित्र रूप रख रहा है, शायद इसमें ज्यादा बहादुरी होगी? खैर यहाँ दृष्टि यह कीजिये कि जीव को शान्ति प्रिय है, इस कारण बहादुरी तो सिद्ध बनने में ही है, किन्तु एक परिणति की दृष्टि से देखा जाय तो सर्वत्र परिणतियाँ छायी हुई हैं । शुद्ध निश्चय से तो मोक्ष और मोक्ष के कारणभूत शुद्ध परिणामों से परिणमने में समर्थ है, अतएव प्रभु है और अशुद्धनय से यह नाना संसारी पर्यायों से परिणमता है, अतएव प्रभु हैं । अब जीव के सम्बंध में कुछ और चर्चायें होंगी ।

अपनी सकल सृष्टियों में प्रभुता—यह जीव स्वयं प्रभु है । यों तो प्रत्येक पदार्थ अपने आपके परिणमन से परिणमनशील है, अतएव सभी पदार्थ प्रभु हैं, किन्तु अचेतन पदार्थ में चेतना शक्ति न होने के कारण प्रभुता जैसी व्यवहार की बात नहीं होती है । अत: यहाँ अन्य को प्रभु की विशेषता न कहकर जीव में प्रभुता बतायी जा रही है । यह जीव स्वयं समर्थ है, अतएव प्रभु है । प्रभु नाम समर्थ होने का है । निश्चय से तो यह जीव निज शुद्ध भावों के परिणमन में समर्थ है, और अशुद्ध निश्चयनय से रागादिक भावकर्म के परिणमन में स्वयं ईश है, प्रभु है, और व्यवहारनय से देखें तो द्रव्यकर्मों का जो परिणमन होता है, आस्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा और मोक्षरूप जो पंचपर्यायों में कर्मों का भी परिणमन होता है उसमें निमित्त समर्थ यही है । यों यह प्रत्येक स्थितियों में ईश है, अतएव यह जीव प्रभु हैं ।

प्रभुता के वर्णन में शिक्षा—हमें इस प्रभुता के वर्णन से यह समझ लेना चाहिए कि हम अपने दुःख में किसी दूसरे पर विरोध की दृष्टि क्यों डालें? कोई भी परपुरुष मेरे में दुःख उत्पन्न कर ही नहीं सकता ।

वह जो कुछ करेगा अपने में खुद में करेगा, इससे बाहर उसकी करतूत नहीं है । ऐसी ही मेरी भी बात है । मेरी प्रभुता मेरे तक है, तब किसी परजीव पर अपने दुःख के विरोध की दृष्टि करना मूढ़ता है । इस ही प्रकार किसी राग प्रेम के व्यवहार में जो यह जीव सुख मानता है उस सुख की परिणति में भी परजीवों पर सुखदाता की कल्पना करना मूढ़ता है । अरे आनंदशक्ति से भरा हुआ यह आत्मा बिगड़ते-बिगड़ते कहाँ तक बिगड़े? किन्हीं-किन्हीं प्रसंगों में अपनी ही आनन्दशक्ति का कुछ अंश मिल जाता है, उसी को यह जीव भोगता है, पर मोह लगा है, इस कारण परनिमित्त पर यह आरोप करता है कि मुझे इस पर से सुख मिला है, वस्तुत: परपदार्थों की ओर जो इसकी दृष्टि लगी, आकर्षण हुआ, इसे बाह्यवृत्ति के कारण आनन्द में बाधा आयी है आनन्द नहीं मिलता है।

आनन्दप्रभुता—यह मैं आत्मा स्वयं के सुख दुःख और आनन्द के निर्वाण में समर्थ हूँ । मैं अपनी ही पर्यायों को अपने ही परिणमन से रचता रहता हूं, किसी अन्य निमित्त पर अन्य आश्रय पर दयनीय दृष्टि रखना—यह मेरा दाता है, यह मेरा कर्ता है, मेरी जान इसके अधीन है, मेरा भवितव्य इसी के ही हाथ है, ऐसी कायरता लेना, यह इस प्रभु को युक्त नहीं है । यह मैं आत्मा स्वयं समर्थ हूँ, एक साहस चाहिए अन्तरङ्ग में । आनन्द तो चाहिए है ना । वह आनन्द जिस विधि से मिले उस विधि के करने में क्यों शंका की जा रही है? आनन्द प्राप्ति का उपाय एक केवल निज अंतस्तत्त्व से नाता लगाना है, अन्य कोई उपाय नहीं है । जब किसी भी क्षण दृढ़ता के साथ समस्त परवस्तुवों से नाता तोड़कर श्रद्धा में तो अभी भी तोड़ा ही जा सकता है, परविविक्तता अङ्गीकार करके केवल अपने आपको देखना इसमें ही कैवल्य को सिद्धि है ।

कैवल्य की दृष्टि में अशान्ति का अभाव—भैया ! केवलपना अपने उपयोग में आये वहाँ अशान्ति नहीं होती । जहाँ दूसरे लोग दृष्टि में आयें वहाँ अशान्ति हो जाती है । किसी के इष्ट का वियोग हो गया हो तो वह इष्ट का ख्याल कर-करके दुःखी होता है, यह दुःख पर की दृष्टि में ही तो हुआ है । कोई मान लो रोते-रोते बहुत थक गया हो, कुछ विश्राम से बैठा हो और इतने में अपने इष्ट मौसा-मौसी, फूफा-फूफी कोई बाहर से आ जायें, जैसे कि फेरों में लोग आया करते हैं तो उनको दृष्टि में लेते ही फिर यह और तेज रोने लगता है । किसी बाह्य की दृष्टि करना नियम से क्लेश के लिए होता है । यदि इतनी श्रद्धा नहीं है तो जैनधर्म मानने का और अर्थ ही क्या है? पूजा, वन्दन, दर्शन, जाप, सत्संग, स्वाध्याय, गुरुसेवा आदि सबका और अर्थ ही क्या है? मूल में यदि यह श्रद्धा है कि बाह्य पदार्थों की ओर दृष्टि करना ही बन्धन है, भ्रमण है, रुलना है, क्लेश है, पाप है । यह श्रद्धा हो तब तो उसके ऊपर, इस नींव पर धर्म महल की भीत खड़ी हो सकती है । यह श्रद्धा नहीं है, कर्तृत्व की वासना अन्दर पड़ी है तो फिर सब व्यर्थ है । धर्मकार्य का फिर अर्थ क्या रहा?

अपनी बात—भैया ! अपनी बात अपनी भलाई के लिए अपने पर दया करके दृढ़ता के साथ समझ लीजिए । इसमें कुछ आपका जाता है क्या? यहीं बैठे ही बैठे अपने उपयोग द्वारा केवल एक अपने आपमें पहुंचें, और सब समस्याएँ हल कर ली जाये । यह मैं आत्मा चूंकि वस्तु हूँ, इसलिए निरन्तर परिणमनशील होता हूँ, एक क्षण भी मेरा परिणमन रुकता नहीं है- और उस परिणमन में मैं ही समर्थ हूँ, कर्ता हूँ, अन्य कोई मुझमें तादात्म्यरूप से मिलकर मेरा परिणमन नहीं करता है, ऐसी स्वतंत्रता, प्रभुता मुझमें है । यह श्रद्धा न हो तो फिर कल्याण के लिए आगे और कोई कदम नहीं हो सकता है ।

जीव का कर्तृत्व—इस प्रकरण में जीवद्रव्य का विशेष व्याख्यान चल रहा है । यह जीव परमशुद्धनिश्चय से अकर्ता है, शुद्ध निश्चय से अपने शुद्ध परिणामों का कर्ता है, जो शुद्धज्ञानादिक भाव हैं उन भावों का कर्ता है, और अशुद्ध निश्चयनय से पुद्गल कर्मों का निमित्त पाकर जो रागादिक भाव उत्पन्न

होते हैं उन रागादिक भावों का कर्ता है और व्यवहार से इन रागादिक भावों के कारण जो कर्मबंध आदि होते हैं उन पौद्गलिक कर्मों का कर्ता है । कैसी निमित्तनैमित्तिक योग के कारण गुत्थी बनी हुई है? यह जीव पुद्गल परिणमन के निमित्त रागादिक करता है, इसके दो मुख्य अर्थ हो जाते हैं । कर्मों के उदय का निमित्त पाकर रागादिक भावों का कर्ता है और रागादिक भावों का कर्ता कर्मबंध के निमित्त होता है अर्थात् रागादिकभाव करके ये कर्मबंध करेंगे । इसके विभावों के कारण इस पर दोहरी मार पड़ रही है—आन्तरिक मार और बहिरङ्ग मार । आन्तरिक मार का नाम है घातिया और बहिरङ्ग मार का नाम है अघातिया । ये बहिरङ्ग साधन सीधे मेरा घात नहीं करते, किन्तु मेरा घात करने वाले परिणामों के लिए सहायक साधन बनता है ।

व्यामोह और बन्धन—अहो यह आत्मा अनन्त प्रभुशक्ति होकर भी आज कैसा बन्धन में जकड़ा हुआ है? जकड़ा तो अनादि से है, पर दृष्टि में अब आया है । अब की बात कही जा रही है । कैसा जकड़ा हुआ है? कर्म और जीव का तो निमित्तनैमित्तिक योग सहित एकक्षेत्रावगाही बन्धन है । मूढ़ता की बात तो देखो—जो भिन्न क्षेत्र में रहता है, अत्यन्त भिन्न है, जिस पर मेरा रंच भी अधिकार नहीं है, अपने-अपने कर्मों को लिए हुए है, अपनी परिणति से अपनी दशाएँ बनाता फिर रहा है—ऐसे दो-चार जीवों को अपना कुटुम्ब मानकर उपयोग में केवल उनके लिए ही अपने को मान रखा है । मेरा तन, मन, धन, वचन सब कुछ इन परिजनों के लिए है, बाकी जीव तो सब गैर हैं, यों व्यामोह कर रखा है । अरे उन गैरों में से फिर कोई जीव आज घर में पैदा हो जाय तो वह भी इसकी कल्पना में अपना बन गया और इन माने हुए अपने में से मरकर कोई दूसरी जगह, पड़ोसी के यहाँ पैदा हो जाय तो वह अब गैर हो गया । क्या बावलेपन जैसी बात है? थोड़ी देर में उसी जीव को, अपना कह डाला, थोड़ी देर बाद उसी जीव को गैर कह डाला, गैर को फिर थोड़ी देर बाद अपना कह डाला, यह कैसा मोह का नशा चढ़ा हुआ है? किसी बात पर टिक नहीं सकता यह जीव ।

पर का अकर्तृत्व—सांसारिक परिस्थितियों में भी यह जीव करने वाला किसी दूसरे का नहीं है । कहीं किसी को अपना मान लेने से अपना नहीं हो जाता । कभी किसी परपरिणति का, मैं कर्ता हू, ऐसा मान लेने से कहीं यह उसका कर्ता नहीं हो जाता । यह तो सर्वत्र अपने ही परिणमन का कर्ता है । यदि अपना मान लेने से कुछ अपना हो जाय तो इस संसारी की महिमा भगवान से भी बड़ी हो जायगी । जो भगवान नहीं कर सकते उसे यह संसारी करके दिखा रहा है, पर ऐसा है ही नहीं । जैसा जो है वह भगवान के ज्ञान में आता है । जो जैसा नहीं है वह ज्ञान में नहीं आता । हम कल्पना कर-करके अपने को उल्झन में डाल लें, यह मेरा है, यह मेरा है, डाल ले, पर भगवान तो यों नहीं जानते कि यह घर इनका है । आप कह रहे हो कि यह मेरा घर है और यहाँ के १० आदमी भी कहते हैं कि यह घर इन साहब का है, पर क्या ऐसा भगवान के ज्ञान में भी ज्ञात है कि यह घर इन साहब का है । यदि भगवान यों जान जायें कि यह घर इन साहब का है तो फिर यह ऐसी रजिस्ट्री की बात हो गयी कि समझो फिर वह घर उनका मिट नहीं सकता । सरकार की रजिस्ट्री तो काल पाकर फेल हो सकती है । सरकार की भी नियत बदल जाय या कोई भी बात कर डाले । एक संकटकाल का कानून होता है आपकी बनी बनाई हवेली कहो हड़प ले और कहे कि तुम जावो अन्य जगह रहो, यहाँ आफिस बनना है । लो अब तो कुछ बात भी नहीं रही । यह सब न कुछ चीज हो जायगी । भगवान जान लेवें कि यह घर इनका है तो फिर पचासों लोगों से बताने की जरूरत नहीं है ।अरे जो असत्य है उसे भगवान नहीं जानते । यह अपनी कल्पना में जो चाहे बात बनाकर रहे ।

जीव का भोक्तृत्व—मैं केवल अपने परिणामों का कर्ता हूँ, अपना ही स्वामी हूँ, इससे आगे मेरी कोई कला ही नहीं है । यह आत्मा कर्ता भोक्ता है—किसका, इसका निर्णय तो कर लो । यह आत्मा भोक्ता है निश्चय से तो अपने शुद्ध आनन्द परिणाम का भोक्ता है, जो अपने सत्त्व के कारण और

अगुरुलघुत्व गुण के कारण स्वयं में जो सहज बीत सकती है, ऐसी स्थिति का यह भोक्ता है, अनुभवन करने वाला है । अशुद्ध निश्चयनय से पुण्य पाप कर्मों का निमित्त पाकर जो जीव में सुख दुःख परिणाम हुआ करते हैं उन सुख दुःख परिणामों का यह भोक्ता है और व्यवहार से इष्ट अनिष्ट विषयों का भोक्ता है। जैसे कि लोग कहते हैं कि मैंने भोजन भोगा, मैंने अमुक चीज भोगी, सम्पदा भोगी, यह व्यवहारनय से कहा जाता है । वस्तुत: यह जीव जो अपने में बात गुजरती है उसका ही भोगने वाला है, अन्य किसी का नहीं । भोजन करते समय जो कल्पना में यह बात आयी यह बड़ा मीठा है, यह बड़ा स्वादिष्ट है, और कल्पनाएँ जगने से मौज मानता, वहाँ कल्पनाओं का सुख आ रहा है, वह भोजन में से सुख नहीं आ रहा है । भोजन में जो रस पड़ा हुआ है उस रस का ज्ञान तो यह कर रहा है, निश्चय से उस रस का भी यह ज्ञान नहीं कर रहा है, किन्तु उस रस को विषयभूत बनाकर अपने आपके ज्ञान में जो परिणमन कर रहा है उसको ही जान रहा है ।

स्वयं का ही ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व—जैसे कहते हैं ना भगवान सर्वज्ञदेव परमात्मा निश्चय से आत्मा को ही जानते हैं और व्यवहार से सबको जानते हैं । उसका अर्थ क्या है? परमात्मा सब पदार्थों में तन्मय होकर जैसे कि अपने जानन परिणमन में तन्मय होता है, इस तरह तन्मय होकर पदार्थ को नहीं जानता, वह तो अपने आपमें तन्मय होकर अपना जानन बनाता है । इस कारण जैसे परमात्मा को हम कहते हैं कि निश्चय से वह अपने आत्मा को जानता है और व्यवहार से सबको जानता है, ऐसी ही बात हमारी आपकी सबकी है । निश्चय से तो भोजन आदिक प्रसंगों में भी हम अपने को जानते हैं । अपने को जाना इसने विभावरूप में, पर जाना अपने को और व्यवहार से उस भोजन को जाना । निश्चय से इस जीव ने अपने आनन्दरस का स्वाद लिया, व्यवहार से उस भोजन मिठाई का स्वाद लिया, यों कहा जाता है । मैं वस्तुत: अपने ही परिणामों का भोक्ता होता हूँ, यह श्रद्धा अमृत है, इसको जो पीवेगा, जो इस श्रद्धा को रखेगा उसका जीवन सफल है । वह प्रभु अंतरङ्ग में निराकुल रहता है । प्रभु की भक्ति के एवज में हमको यही बड़ा प्रसाद मिलता है, जो अन्त: निराकुल रह सकता है, यह मैं आत्मा अपने परिणामों का ही अनुभवने वाला हूँ ।

जीवपरिमाण—हूं मैं कितना निश्चय से? तो मैं असंख्यातप्रदेशी होने के कारण लोकप्रमाण हूँ और यह लोकप्रमाणपना जीव में शाश्वत रहता है । भले ही विस्तार में लोकप्रमाण नहीं है, पर इसके अन्त:प्रदेश को निरखकर लोकप्रमाणता ही शाश्वत रहती है, और व्यवहार से जैसा शरीर पाया, जैसी अवगाहना का परिणमन पाया, नामकर्म के द्वारा रचा हुआ छोटा और बड़ा शरीर पाया, उसमें रहता हुआ वह जीव देह मात्र है । इस समय ऐसा ही तो लग रहा है कि मैं देह प्रमाण हूँ, लेकिन एक ध्यान और दीजिए । देहप्रमाण होकर भी अपने उस शुद्ध चैतन्यस्वभाव में मग्न होता है तो उसे देह प्रमाण की खबर नहीं रहती है । अनुभव चलता है आत्मप्रदेशों में ही, पर अनुभवन की सीमा का विकल्प नहीं रहता । जैसे कि लौकिक सुख दुःख भोगने के समय अपनी सीमा याद रहती है, मुझे बड़ा दुःख हो रहा है । कहाँ हो रहा है हाथ में कि पैर में कि सिर में? इतना तक भेद डाल देते हैं, पर स्थान भेद के समय चैतन्यस्वभाव के उपयोग के समय इसके उपयोग में देहप्रमाणता का भी विकल्प नहीं है, केवल एक चित्स्वरूप का अनुभव है, कोई दूसरी बात ही नहीं है, ऐसे शुद्ध ध्यान के समय जो अद्वैत की स्थिति होती है उसी स्थिति को लक्ष्य में लेकर कुछ लोगों ने सर्वथा अद्वैत मान लिया है । मैं सर्वदा एक हूँ, एक ही मैं आत्मा हूँ, सर्वव्यापक हूँ, यों मान्यता हो गयी । स्वभाव के उपयोग में चूंकि द्वैत का, दो का विकल्प नहीं रहता है, इस स्थिति को सर्वथा के रूप में कुछ लोगों ने मान लिया है । यह मैं आत्मा शरीर प्रमाण हूँ, फिर भी निश्चय से लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशी हूँ ।

उपाधिबन्धन—भैया ! जीव की कथनी जब चले तब कहीं दूसरे जीव की ही बात कही जा रही है, ऐसी दृष्टि न लायें । मेरी ही यह बात है, यों इसको अपने आप पर घटित करते हुए ही निरखना चाहिए ।

यह मैं आत्मा व्यवहार से कर्मों के साथ एकमेक चल रहा हूँ, बड़ा विचित्र बन्धन है कर्मों का और जीव का । सोचने में यों आता है कि आत्मा तो रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित है, अमूर्त है, और ये कर्म मूर्तिक हैं । अमूर्त का मूर्त के साथ बन्धन कैसे हो गया? इसमें गांठ नहीं लग सकती, इसमें प्रतिघात नहीं हो सकता, फिर यह बन्धन कैसे हो गया? आश्चर्य होता है और बन्धन इतना तीव्र है कि उस बन्धन की दृष्टि से जब देखते हैं तो यों भी कह दिया जाता कि जीव और कर्म का एकत्व परिणमन हो गया । इतना कठोर बन्धन है ।

उपाधिबन्धन में अमूर्त जीव की मूर्तता—जीव का बन्धन निमित्तनैमित्तिक भाव में शुरू होता है और परवशता इतनी बढ़ जाती है कि यहाँ तक नौबत आ गयी है । यह जीव शरीर में भी इतना बँधा हुआ है, एक क्षण भी शरीर से अलग हटकर हम किसी जगह बैठना चाहें तो नहीं बैठ पाते हैं । कहीं जाये तो इस शरीरीपिंडोला को लिए-लिए जायेंगे । जब बहुत तेज गर्मी पड़ती है और प्यास से व्याकुल होते हैं, पीते जाते हैं पानी, गले तक भर गया फिर भी प्यास लगी है । दो घूँट पानी भी नहीं जा सकता, बेचैन हो रहे हैं । अपना ही शरीर अपने को दु:खद मालूम पड़ने लगता है, पर इस शरीर से पृथक् स्वरूप का चिन्तन भी जब महान संकटों को टाल देता है तो जो प्रभु उस शरीर से सर्वदा के लिए पृथक् हो गये हैं, केवल ज्ञानपुञ्ज आनन्दघन अपने स्वरूप में अवस्थित हैं, उनका तो नि:संकट स्वरूप है । यहा के संकटों को कभी-कभी टालने का श्रम किया जाता है । ये सब व्यर्थ की बातें हैं । कोई मूलत: संकट टालने का उद्योग बने । सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्ररूप उपयोग बने तो इस प्रकार संकट टलेंगे, फिर आगामी काल में संकट आयें ही नहीं । इस प्रकार से नि:संकट अवस्था बने तो वह है वास्तविक नि:संकट स्थिति । यह मैं आत्मा व्यवहार से कर्मों के साथ एकमेक होने के कारण मूर्त बन गया हूँ, फिर भी निश्चय से देखा जाय तो रूप, रस, गंध, स्पर्श का मुझ में स्वभाव नहीं है, इस कारण मैं मूर्त नहीं हूँ, अमूर्त हूँ ।

अधिकार गाथा का दर्शन—जीव के सम्बन्ध में जीव की इन विशेषतावों को निरखा जा रहा है । इस गाथा में जीव का स्वरूप बतलाया जा रहा है और साथ ही यह भी घोषित हो रहा है कि इस-इस प्रकरण को लेकर आगे विस्तार से वर्णन किया जायगा । यह जीव है, यह चेतयिता है, यह उपयोग सहित है, प्रभु है, कर्ता है, भोक्ता है, देहमात्र है, मूर्तिक है, कर्मसहित है । इन सभी प्रकरणों पर अलग से कभी-कभी कथन में वर्णन किया जायगा और इन सबको स्पष्ट किया जायगा । इस प्रकरण को सुनकर हमें अपने आपके सही स्वरूप का निर्णय रखना चाहिए ।

जीव की कर्मसंयुक्तता—यह जीव कर्म से संयुक्त है । यहाँ अनेक दृष्टियों से इस कर्मसंयुक्तता को देखने पर जीव की अनेक परिस्थितियाँ समझ में आती हैं । परमशुद्ध निश्चयनय से तो यह जीव कर्मसंयुक्त नहीं है । यह शुद्धनय केवल सहजस्वभावरूप अपने को दिखाता है । शुद्ध निश्चयनय से यह जीव अपने ज्ञान दर्शन आदिक गुणों की जो शुद्ध क्रियाएँ हैं उन क्रियावों से संयुक्त है । क्रिया और कर्म दोनों का एक ही अर्थ है । सिद्ध और अरहंत प्रभु की जो उन ज्ञानादिक गुणों की परिणतियाँ हो रही हैं वे परिणतियाँ ही परमात्मा के कर्म हैं । कर्म का अर्थ है जो किया जाय, जो हो जाय, जो परिणति बने । ऐसे शुद्धनिश्चय से शुद्ध चैतन्यपरिणामात्मक कर्मों से संयुक्त है यह जीव । इसमें जीव की उत्कृष्टता प्रसिद्ध होती है अशुद्धता नहीं । अशुद्ध निश्चयनय से यह जीव पुद्गल परिणामों के अनुरूप, निमित्तभूत कर्मोदय के अनुरूप जो चैतन्यपरिणमन होता है, गुणों की परिणतियाँ होती है, तदात्मक भावकर्म से संयुक्त है, यों कर्मसंयुक्त है । व्यवहारनय से यह जीव इन अशुद्ध चैतन्य परिणामों के अनुरूप जो पुद्गलकर्म का बन्धन हुआ है, जो-जो भी स्थितियाँ हुई हैं उन पुद्गल परिणामात्मक कर्मों से संयुक्त है । यह जीव इस प्रकार कर्मसंयुक्त है ।

विशेषणों की खंडनमंडनात्मकता—जीव की विशेष व्याख्या में ९ विशेषण दिये हैं । इन ९ विशेषणों से

जीव का ज्ञान तो कराया गया है, साथ ही साथ जो जीव के सम्बन्ध में किसी एकान्त स्थान का हठ करते हैं उनके एकान्त का खण्डन भी हो जाता है । प्रत्येक शब्द खण्डनमंडनात्मक होता है । शब्द का क्या अर्थ है? जो है वह तो मंडन हुआ, इसके अलावा और कोई दूसरा अर्थ नहीं है यह खण्डन हुआ । प्रत्येक शब्द खण्डनमण्डन स्वरूप को लिए हुए है । हम प्रयोजनवश खण्डन पर दृष्टि नहीं डालते हैं, पर जो कहा गया है वही तो कहा गया, अन्य तो नहीं । हम मंदिर जाते हैं, मंडन हो गया मंदिर जाने का । हम और किसी अन्य जगह नहीं जाते, यह भी तो साथ-साथ उसमें भरा हुआ है ।

नास्तिकता का परिहार व अचित्स्वभाव का परिहार—जो जीव के ये विशेषण कहे गये हैं उनसे क्या मंडित होता है और क्या निराकृत होता है? इसे सुनिये । सर्वप्रथम विशेषण तो जीव की सिद्धि के लिए है । जीव है, अनेक लोग तो ऐसे हैं चारर्वाक आदिक कि जीव की सत्ता ही नहीं मानते । जीव है इतना कहने में अपने आप यह सिद्ध हो गया कि जीव का अभाव नहीं है इससे नास्तिकवाद का निराकरण हो जाता है । इनके बाद कहा है कि चेतन है यह जीव । अनादिकाल से यह जीव चैतन्यस्वरूप को लिए हुए हें । कुछ लोग जीव को मानते भी है, पर उसे चैतन्यरूप से नहीं मानते । ये अनेक के संयोग होने से जीव की यह परिस्थिति बन गयी है ।एक ऐसी बिजली पैदा हो गयी कि यह चलता है, फिरता है, खाता है, इसमें चैतन्य का काम नहीं है । चेतना क्या अलग से है ये? ऐसा भी मानने वाले कुछ लोग हैं ।

उपयोगस्वरूपता—तीसरे विशेषण में यह प्रकाश दिया है कि यह आत्मा अनादिकाल से चैतन्यस्वरूप को लिए हुए है, यह तो ठीक है अथवा सामान्य चेतना का तो वर्णन प्राय: सभी मत करते हैं । उन मतों में भी साधारण रूप से पाया जाता है । उसके बाद विशेषण दिया है, यह उपयोग से विशेषित है । यह विशेषण आत्मा के जानन-देखन के उपयोग का मंडन करता है और साथ ही सर्वज्ञ की सिद्धि भी करता है । मोक्ष का और मोक्ष के साधन का भी संकेत करता है । इस जीव का जो कुछ भविष्य है वह उसके उपयोग पर निर्भर है इस बात को प्रकट करते हैं । है भी यह बात । हम जैसा उपयोग करें वैसा ही हममें प्रभाव होता है । हम जब दुःख के अनुरूप अपनी कल्पना बनाते हैं तो उन तात्कालिक ज्ञानों के परिणाम में दुःख मिलता है । ऐसी ही सुख की बात है । जब हम शुद्ध ज्ञानपरिणति को निहारते हैं तो हममें आनन्द प्रकट होता है । यों हमारा सारा भविष्य हमारे उपयोग पर निर्भर है ।

प्रभुता के मर्म—इसके बाद विशेषण दिया है कि यह जीव प्रभु है, समर्थ है । इस प्रभुता का विशेषण कहने से हमारी शिक्षा के लिए दो बातें आती हैं । एक तो मैं प्रभु हूँ अर्थात् संसार में रुलूँ, मोक्षमार्ग में लगूँ, इन सब बातों के लिए मैं समर्थ हूँ । दूसरी बात—परमात्मा भी प्रभु है और इसी कारण प्रभु की ध्वनि में प्रकट हुए प्रत्येक वचन प्रामाणिक हैं, क्योंकि वह प्रभु हैं । जिनेन्द्र भगवान के वचनों में कहीं भी कुछ शंका के योग्य बात नहीं है । यह आत्मा प्रभु है, इस प्रभुता के विशेषण से जो लोग अपने को पराधीन मानते हैं, दूसरों की दृष्टि में हमारा जैसा नम्बर आये तैसा ही होनहार है, इस प्रकार के जगत् कर्तृत्व का खण्डन होता है ।

जीव की निष्कर्मता—प्रभुता के विशेषण से आत्यन्तिक शुद्धता का समर्थन होता है। कोई इस प्रकार का विचार लिए हुए है कि यह जीव तो सदैव रागी रहेगा ही । भले ही किसी क्षण राग मंद हो जाय, इतना मंद हो जाय कि वह वीतराग जंचने लगे । इतना होने पर भी कुछ समय के बाद चाहे वह चिरकाल का समय हो, राग आयगा, उसे संसार में आना होगा, जन्म मरण करना होगा, रुलेगा । ऐसी ही मुक्ति का नाम वैकुण्ठ है । जीव तपस्या करके वैकुण्ठ में पहुंच जाता है और वहाँ चिरकाल तक खरबों वर्षों तक रहता है, पर कुछ समय बाद ईश्वर के मन में आया, राग पैदा कराकर ढकेल दिया, ऐसा भी कोई लोग मानते हैं । यह वैकुण्ठ क्या है? नवग्रैवेयक, जो जैन सिद्धान्त में ग्रैवेयक कहा गया है; उसकी ऐसी ही स्थिति होती है । ग्रीवा मायने भी कंठ है, और ग्रीवा से ग्रैवेयक बना है, और बैकुण्ठ भी कंठ से बना है । लोक की जो रचना है उस रचना में जो मनुष्याकार लोक रचना है उसके कंठ का जो स्थान है

वह ग्रैवेयक है । ग्रैवेयक का लाभ अपनी उग्र तपस्या से और व्रत समता आदिक परिणामों से उत्पन्न हो जाता है । वहाँ ३१ सागर पर्यन्त भी देव रहते हैं । इन वैकुण्ठवासियों के मंद कषाय है, कषाय नहीं के बराबर अर्थात् शुक्ल लेश्या है । एक इस ही को दृष्टि में लेकर यों कह दिया कि राग नहीं है । वह भगवान हो गए हैं, लेकिन जब आयु का क्षय होता है तो उन्हें आकर जन्म मरण के चक्र में फंसना ही होता है । ऐसा तो फंसाव अब भी है उनके । वे ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो जाते हैं, पर राग अभी भी नहीं छूटता । जीव कभी रागी नहीं होता, इस बात का खण्डन इस विशेषण ने किया है । जीव प्रभु है ।

स्विपरिणामकर्तृत्व—५वीं बात बतायी है जीव के सम्बंध में कि अपने आपके परिणामों का यह जीव कर्ता है । अपनी जितनी भी यह दृष्टियाँ करेगा उसका यह स्वयं ही परिणमयिता है । अन्य पदार्थ केवल निमित्तमात्र हैं । इस कर्तृत्व के विशेषण से मंडन यह किया कि शुद्ध अथवा अशुद्ध जो भी परिणमन होता है उसका यही जीव कर्ता है । साथ ही जो सिद्धान्त जीव को अकर्ता कहता है और उस अकर्तृत्व का एकान्त हठ करता है उसका निराकरण होता है । कुछ बंधु ऐसा मानते हैं कि यह जीव अकर्ता है, पुण्य पाप शुभ अशुभ यह कुछ नहीं करता । यह तो सदाकाल शुद्ध रहता है । फिर पूछा जाय तो यह सुख दुःख का अनुभवी कैसे होता है, करता तो कुछ नहीं है, तो उनका उत्तर यह है कि बुद्धि के मार्फत जो कि प्रकृति का विकार है जीव की चीज नहीं है । बुद्धि में आये हुए अर्थ को यह भ्रमवश चेतने लगता है । बहुत बातें करने के बाद तो बात टिक नहीं सकती इस सिद्धान्त की । भ्रमवश चेतने लगना तो यह भ्रम किसमें जगा? प्रकृति में जगा । तो प्रकृति ही कुछ अनुभव करे । फिर यह चेतन किसे अनुभव करता है, यह सिद्धान्त उन्हें बताया जा रहा है जो जीव को अकर्ता तो मानते हैं? लेकिन भोक्ता साथ-साथ मानते हैं । अकर्ता और अभोक्ता दोनों माने तो एक नय से यह बात उनकी घटित हो जाय, पर अकर्ता तो माना, अभोक्ता नहीं माना । भोगने वाला यह जीव है, किन्तु कर्ता नहीं। उस मत का इसमें निराकरण होता है ।

स्वयं भोक्तृत्व—यह जीव भोक्ता है, ऐसा कहने से यह सिद्ध हुआ कि अपनी करनी अपनी भरनी । ऐसा स्वच्छन्द मत हो कि जो मन में आये सो करो । अरे जो करोगे उसे भोगोगे। इस विशेषण में उस मंतव्य का खंडन होता है जो मंतव्य जीव को भोक्ता नहीं मानते । कर्ता तो मान लेते हैं और भोक्ता नहीं मानते । जैसे क्षणिकवाद में इस जीव ने पाप किया, अब वह जीव पाप करके नष्ट हो गया । क्षणिक सिद्धान्त है । नया जीव उत्पन्न हुआ । तो जिसने किया उसने तो नहीं भोगा । भोगने वाला कोई दूसरा बन गया, किन्तु ऐसा तो नहीं है, जो कर्ता है वही भोक्ता होता है ।

जीव की देहप्रमाणता—यह जीव देहप्रमाण है । कुछ लोग मानते हैं कि यह जीव बट के बीज की तरह, अत्यन्त छोटा है और यह सारे देह में चक्कर लगाता रहता है । इससे मालूम पड़ता है कि मैं देह बराबर हूँ । कुछ लोग यह मानते हैं कि यह आत्मा तो एक समस्त लोक में फैला हुआ व्यापक है । ये दोनों परस्पर में विपरीत सिद्धान्त हैं । किसी को अणुमात्र मान लेना और किसी को सर्वव्यापक मान लेना—इन दोनों बातों का निराकरण अथवा मंडन इसमें हुआ है । अणुमात्र का मंडन तो नहीं होता, पर कदाचित् यह जीव अत्यन्त छोटे शरीर में पहुंच जाय, तो वहाँ उस देहप्रमाण रहता है । यह जीव असंख्यातप्रदेशी है । इसमें वह योग्यता है, शक्ति है कि किसी समय एक क्षण जैसे कि लोकपूरण समुद्घात में होता है, आत्मा का एक-एक प्रदेश पर विरल होकर विस्तृत हो जाता है।

जीव की अमूर्तता—यह जीव अमूर्त है । कुछ लोग इस जीव को अमूर्त नहीं मानते । नैयायिक, मीमांसक, कपिल आदि मन्तव्य में जीव का वर्णन करके भी जीव की ऐसी अमूर्तता जो देह से अत्यन्त विविक्त निर्मल आकाशवत् निर्लेप सहज स्वरूप समर्थ एक द्रव्य है, इस प्रकार की स्पष्टता नहीं आती । अमूर्त कहने से यह सिद्ध किया गया है कि जीव शरीर के बन्धन में रहकर भी नाना परिणतियों से विचित्र परिणाम करके भी यह सदैव रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित रहता है ।

निष्कर्मता और कर्मसंयुक्तता—यह जीव कर्मसंयुक्त है । द्रव्यकर्म और भावकर्म इसके साथ लगे हुए हैं । ऐसा न जानना कि यह जीव अनादिकाल से ही कर्मरहित है, इस पर कभी कर्मों का लेप ही नहीं है । देखिये—आखिर ये सभी सिद्धान्त जिन एकान्तों का निराकरण किया है वे सभी बातें जीव में पायी जाती हैं और अपनी-अपनी दृष्टि से वे सब बातें सच हैं । यह जीव सदा मुक्त भी है । हम आप अनादिकाल से मुक्त हैं । कोई एक अलग से प्रभु की बात नहीं कही जा रही है । जरा स्वभाव तो देखो—क्या जीव के स्वभाव में कर्मों का लेप रहना पड़ा हुआ है । जैसे जल के ऊपर मिट्टी का तेल गिर जाय तो वह मिट्टी का तेल जल में सब ओर फैल गया है, पर जल का स्वभाव क्या मिट्टी के तेल को ग्रहण कर लेना है? पृथक् रहना है । और देखते ही हैं कि तेल तैरता रहता है । यहाँ का वहाँ डोलता रहता है, जल उसे आत्मसात् नहीं करता । तो भले ही लेप है, पर जल का स्वभाव तेल से अलग बना रहने का है । ऐसे ही यह निरखो कि भले ही इस जीव में रागद्वेष का विभाव आ गया, कर्म और शरीर का बन्धन हो गया, इतने सब उपद्रव होने पर भी यह जीव स्वभाव से अपने स्वरूपमात्र है । कुछ भी हो जाय, स्वभाव नहीं बदलता । उस स्वभावदृष्टि से देखने पर यह जीव सदाशिव है सदामुक्त है ।

जीवस्वरूप की दृष्टि—इस गाथा ने हम को जीव के मंडन की दृष्टि दी व जो बात जीव में नहीं है अथवा एकान्त है उसके निराकरण की दृष्टि दी, और इस प्रकरण में आगे जो वर्णन चलेगा वह वर्णन इन ९ बातों को पुष्ट करता हुआ चलेगा । इस प्रकरण में इतने प्रकरण और गर्भित हैं । यों भूमिका के बाद जो ग्रन्थ में प्रायोजनिक स्वरूप कहा जा रहा है उसमें यह प्रकरण गाथा की तरह माना जाता है । इससे सीधा हम यह समझें कि यद्यपि कर्मउपाधि के कारण मिथ्यात्व रागादिक विभावरूप परिणमन हो रहा है लेकिन इनका त्याग कर स्वभावदृष्टि कर के उनको श्रद्धा से हटाकर ये मैं नहीं हूँ ऐसा मानकर मैं तो एक निरुपाधि केवलज्ञानदर्शन आदिक गुणों से तन्मय शुद्ध जीवास्तिकाय हूँ, ऐसी भावना करना चाहिए ।

धर्मी का लक्ष्य—जब तक धर्मी का सद्भाव हमारे उपयोग में न होगा तब तक हम उसमें धर्म सिद्धि नहीं कर सकते । कैसा इस जीव के वर्णन में आदान-प्रदान है, पर इसको किस शब्द से कहा जाये? इसको बताने वाला कोई शब्द नहीं है । हम जो शब्द बोलेंगे वह धर्म बन जाता है । धर्मी को बताते वाला तो केवल अनुभव है, जो शब्द में कह दिया वह उसका एक अंश होगा, धर्म होगा । हां उस एक धर्म को हम इस रूप में ग्रहण करते हैं कि हम धर्मी का ज्ञान कर लें ।

उपेक्षासंयम से स्वरूपलाभ—अपने आपका ज्ञान करना हो तो बहुत सीधा तरीका यह है कि कम से कम इस ज्ञान का तो उपयोग रखें ही कि जगत में जितने भी समागम मिले हैं—धन, वैभव, घर, परिजन, यश, ये सब असार और भिन्न चीजें हैं, इतनी बात जाने बिना तो जीव अनुभव करने का पात्र ही कोई नहीं होता । पर के सम्बंध में यथार्थ हमारा जैसा ज्ञान हुआ, दृढ़ता में इस ही प्रकार जानकर विश्राम से बैठ जाये । मुझे इन भिन्न असार परपदार्थों को ख्याल में नहीं लेना है । क्या करना है? हमें कुछ पता नहीं । हम तो इतना जानते हैं कि जो भिन्न चीजें हैं, असार हैं, जिनसे कुछ सम्बंध नहीं है उनको हम अपने ख्याल में न लें । परवस्तुवों को अपने ध्यान में न रक्खें, उन्हें अपने ज्ञान में स्थान न दे, ऐसा शुद्ध विश्राम करें तो यह जीव स्वयं सहज ही अपने आपके स्वरूप का परिचय पा लेगा, प्रतिभास प्रकाश और शुद्ध विशिष्ट आनन्द अनुभव कर लेगा, और तब स्पष्ट समझ जायगा कि ऐसा ज्ञानानन्दमात्र मैं आत्मा हूँ ।

गाथा २८

कम्मफलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता ।
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं ।।२८।।

सिद्धत्व की व्यक्ति—इस गाथा में मुक्त अवस्था में अवस्थित आत्मा का जो कैवल्यस्वरूप है, निरुपाधि स्वरूप है उसका वर्णन किया गया है । कर्मफलों से मुक्त हुआ यह जीव ऊपर लोक के अन्त में प्राप्त होकर अतीन्द्रिय अनन्त सुख को प्राप्त होता है । यह जीव सर्वज्ञ और सर्वदर्शी अरहंत अवस्था में हो

ही गया था और वही सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता सिद्ध अवस्था में भी है और सदा के लिए रहेगी ।

आत्मबन्धन—संसार अवस्था में यह आत्मा बन्धन में है । बन्धन हमेशा दूसरी चीज के सम्बंध से होता है । कोई भी पदार्थ खुद ही एक अकेला है, उसमें बन्धन काहे का? दूसरे पदार्थ का समन्वय हो तभी बंधन बन सकता है । इस आत्मा के साथ निश्चय से तो बंधन रागद्वेष आदिक भावों का है । ये रागद्वेष आदिक भाव परभाव हैं । धीरे-धीरे पर से विविक्त हो होकर इस विविक्तता में ठहर जाइये । ये परभाव जिस पर का निमित्त पाकर हुए हैं वे मेरी चीज हैं क्या? अथवा और बढ़ते जाइए । जो जिसकी चीज है वह उस द्रव्यरूप है । यों रागद्वेषादिकभाव परद्रव्यरूप हैं । देखिये—जिसको अपने लक्ष्य की कला मिल गयी है वह इस प्रकार समर्थ होकर प्रभु होकर लीला करता है, चिन्तन करता है । जिस चाहे नयपरिज्ञान के रास्ते से पदार्थ के स्वरूप का चिन्तन करे, वह अपने लक्ष्य की सिद्धि करता है ।

रागद्वेष की पररूपता—एक नय से रागद्वेष आदिक भाव आत्मा के हैं, आत्मा की परिणति हैं, आत्मद्रव्य का ही वह एक पर्यायरूप अंश है, किन्तु इस आत्मा को चैतन्यमात्र ही निरखना है ऐसी धारणा करके जब हम अन्य कुतत्त्वों को विभावों को निरखते हैं तो इन दशावों को निरखते जाइये । ये रागादिक भाव परभाव हैं, पर के भाव हैं, पर ही हैं, परद्रव्य हैं । आशय मूल में असत् बने तो वर्णन में दोष आता है । आशय मूल में असद् नहीं है तो वर्णन में दोष नहीं आता, बल्कि वह गुण उत्पन्न करता है ।

विशुद्ध आशय की प्रवृत्ति में निर्दोषता—बड़े प्रेम की रिश्तेदारी में ये रिश्तेदार जब मिलते हैं साले-बहनोई तो कोई-कोई गाली देकर ही मिलते हैं, जय जिनेन्द्र अथवा राम-राम कुछ नहीं । जहाँ से दिखा वहाँ से कोई न कोई गाली बककर मिलते हैं । आशय वहाँ किसी का विरुद्ध नहीं है, कषाययुक्त नहीं है तो ऐसा वातावरण भी, ऐसी गाली-गलौज भी वहाँ दोष उत्पन्न नहीं करता अर्थात् विवाद उत्पन्न नहीं करता । ज्ञानी जीव का लक्ष्य विशुद्ध होना चाहिए कि मैं एक चैतन्यस्वरूपमात्र हूँ । इस दृढ़ता के होने पर इस वैभव को परद्रव्य रूप कह सकते हैं । कोई कहे कि 'वाह ! यह परद्रव्य कहाँ है, यह तो आत्मा की परिणति है । अरे क्यों समझाते हो, यहाँ मूढ़ता नहीं है', हम भी जानते हैं, पर इस समय हम जरा उनका इलाज कर रहे हैं, रागद्वेषादिक का । उनकी चिकित्सा में इस समय हमने यह पद्धति अपनाई है । चिकित्सा तो अनेक तरह की होती है, मलहम-पट्टी रखकर करना अथवा औजार से उसका ऑपरेशन आदि करके करना । हमें अपनी रक्षा के लिए जब जिस प्रकार की चिकित्सा करने का हमारा मूड हो हम वह चिकित्सा करते हैं । हाँ, मूल में अज्ञान बस जाय, तो दोष है ।

परसम्पर्क में बन्धन—यह आत्मा बन्धन में पड़ा हुआ है । बन्धन किसी न किसी परवस्तु के सम्बंध में हुआ करता है । अब आगे और चलिये । हमारे साथ बन्धन है द्रव्यकर्म का । यह द्रव्यकर्म तो प्रकट परद्रव्यरूप है । कार्माणवर्गणा जाति के पुद्गल स्कंधों का यह जाल है । यह आत्मा बन्धन में पड़ा है, इसका शरीर से भी बन्धन है, यह शरीर भी परद्रव्य है । परद्रव्य के सम्बंध को ही बन्धन कहते हैं । कोई केवल अकेला हो, उसमें बन्धन नहीं होता है, कोई पुरुष अकेला है, अविवाहित है (लौकिक दृष्टि से कह रहे हैं) उसके बन्धन नहीं है । सगाई हुई कि बन्धन आ गया । विवाह हुआ कि समझो पूरा बन्धन हो गया । अब आगे बच्चे बढ़े, एक बच्चे में तो कुछ बात नहीं, दो बच्चे हुए तो विशेष बन्धन हो गया । वे कभी न्यारे तो होंगे ही । उनको अलग-अलग हवेली चाहिए, अलग-अलग सम्पत्ति चाहिए । जितना सम्पर्क बढ़ेगा उतना ही बन्धन बढ़ता है । यह संसारी जीव कर्मरज से बँधा हुआ है । सीधा सुगम देखने की बात बन्धन में कर्मरज लेना ।

जीव का ऊर्ध्वगमन—जिस काल में यह जीव इस बन्धन से सर्वप्रकार से छूट जाता है ; न तो द्रव्यकर्म का बन्धन रहता और न भावकर्म का बन्धन, उस क्षण में यह जीव कहाँ जाता है, कहाँ रहता है, किस प्रकार रहता है? इसका वर्णन इस गाथा में किया है । जब यह जीव द्रव्यकर्म और रागादिक

भावकर्म से सर्व प्रकार मुक्त हो जाता है तो चूंकि इसमें ऊर्ध्वगमन स्वभाव है, अत: लोक के अन्त को प्राप्त होकर वहाँ अवस्थित रहता है । लोक तक ही छहों द्रव्यों का निवास है, उससे आगे नहीं । इसका निमित्त कारण है धर्मास्तिकाय का अभाव । यह लोक के अन्त में अवस्थित हुआ किस प्रकार रहता है, क्या करता है? इसका उत्तर इसही गाथा की उत्तर पंक्ति में दिया गया है ।

पारमार्थिक सुख के अधिकारी—कोई लोग ऐसा भी कह बैठते हैं कहीं या अज्ञानवश कहते हों या अपनी मौज के अहंकारवश यों कह दिया करते हैं कि मोक्ष में क्या सुख होगा, वहाँ अकेले पड़े हुए हैं, कुछ काम भी करने को नहीं है, वहाँ जी कैसे लगता होगा? कोई उसका वहाँ साथी भी नहीं है, किसी से बातचीत किये बिना कैसे वहाँ मन लगता होगा? अरे जिसको सुख समझा जा रहा है वह सब दु:खस्वरूप है । जिस काल में यहाँ सुख समझा जा रहा है उस काल में भी क्षोभ बना हुआ है। और उत्तर काल में तो इस रौद्रध्यान के कारण उसका ढाँचा ही बदल जायगा । सुख को दुःख माने वह विरला ज्ञानी ही है । खूब संसार की मौज है, समागम ठीक है, पुत्र आदिक आज्ञाकारी हैं, आजीविका का साधन अच्छा है, नगर के १० लोग पूछते हैं, इन बातों से संतुष्ट होकर मंद कषायों की मुद्रा दिखती है । सब कुछ कर ले, पर अंतरङ्ग में रौद्रध्यान बसा हुआ है तो मरण के बाद उसका ढाँचा ही बदल जायगा । क्या बनेगा, कैसी गति में जायगा, उस रूप ढांचा हो जायगा । सुख को दुःख मान ले तो शांति का वास्तविक पंथ दिख सकेगा । जो संसार के सुख को दुःख नहीं मान सकता सुख मानता रहा, उसकी अशान्ति मिटने का कोई उपाय ही नहीं और ऐसे रौद्रध्यान की अपेक्षा किसी प्रकार के दुःख में ठहरा हुआ कह लो, आर्तध्यानी पुरुष अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है, यदि कुछ भी मूल में ज्ञानदृष्टि की योग्यता है तो । और इसी बात को सीधे सुगम शब्दों में लोग यों कह देते कि ''दुःख में सुमिरन सब करें, सुख में करें न कोय । जो सुख में सुमिरन करे तो दुःख काहे का होय ।।''

धर्म के नाम पर मन की मौज—मेरा आत्मस्वरूप केवल चिन्मात्र प्रकाशमात्र आनंदघन उत्कृष्ट स्वरूप वाला है । उसकी रुचि के लिए, दृष्टि के लिए, उससे मिलने के लिए उत्सुकता न जगना, तड़फ उत्पन्न न होना—ये सब महा ऐब इस सांसारिक सुख के कारण होते हैं । जो सुख में मस्त है उसे आत्मस्वरूप की कहाँ खबर है? अज्ञानी जीवों के आत्मस्वरूप की बात करना और धर्म की बात करना, यह भी सांसारिक सुख लूटने की विधि बना ली है । जैसे भोजन करने में बड़ा मौज आता है, ऐसे ही चार जनों के बीच कुछ धर्म की बातें करने में एक मौज आता है । यह मन का विषय है ना। रसना का विषय रसना ने किया और मन का विषय लोगों में अपना भलापन जंचाना यों धर्म की बातें कर-करके किया । वह उत्सुकता धर्म के प्रति तब जग सकती है जब श्रद्धा में यह बात बैठ जाय कि ये संसार के समग्र सुख दुःखरूप ही हैं, ऐसी बात दिखे तब धर्म में परमार्थ पद्धति से रुचि जग सकती है । अब सोच लो अपनी-अपनी बात कि हम अपनी वर्तमान परिस्थिति के बारे में, सुख साधन के समागम के बारे में भीतर से ये सब दुःख ही हैं कभी ऐसा ख्याल करते हैं क्या?

शान्ति की पद्धति—ऐसा न सोचना कि भैया ! हम तो आये हैं कोई धर्म की बात सुनने और यहाँ मिले मिलाये आनन्द पर भी पानी फेरा जा रहा है । जो सुख मिला है उसके प्रति भी दुःखदायी दृष्टि दिलाकर हमारा तो जीवन ही किरकिरा किया जा रहा है । अरे जब तक इस सुख से विलक्षण शुद्ध स्वाधीन आत्मीय आनन्द का लाभ नहीं होता, उसकी झनक नहीं होती तब तक ही ऐसा लगेगा कि यह सब सुख है, हम मौज में हैं । देखिये शान्ति तो ज्ञान की दिशा पर निर्भर है, लौकिक वैभव पर निर्भर नहीं है । लौकिक वैभव होकर भी यदि ज्ञान शुद्ध बना हुआ है, बुद्धि स्वच्छ बनी हुई है तो वहाँ भी शान्ति मिल सकती है । वह शान्ति सद्बुद्धि का प्रताप है, न कि सम्पत्ति का प्रताप । किसी के सम्पदा न हो, कम

हो और बुद्धि की स्वच्छता ठीक रही आये तो उसको शान्ति की पात्रता है । यह प्रभु मोक्ष अवस्था में केवलज्ञान, केवलदर्शनस्वरूप में रह-रहकर निरन्तर सर्वज्ञता और सर्वदर्शितारूप रह-रहकर अतीन्द्रिय अनन्त सुख का अनुभव करते हैं ।

मुक्तता और अमुक्तता—ये सिद्ध प्रभु मुक्त जीव हैं कि अमुक्त जीव? मुक्त जीव भी हैं, अमुक्त जीव भी हैं । कर्मों से छूटे गये इसलिए मुक्त हैं, किन्तु अपने स्वरूप से नहीं छूट अथवा इतना ही नहीं, अपने स्वरूप के परमविकास में तन्मय हो गये ऐसे अमुक्त हैं । अच्छा आप लोग भी मुक्त जीव हैं कि अमुक्त जीव? आप लोग भी मुक्त भी हैं अमुक्त भी हैं । केवलज्ञान, केवलदर्शन, शुद्ध अवस्था इनसे तो आप मुक्त हैं और रागद्वेष मोह इनसे अमुक्त हैं । ये सिद्ध प्रभु कर्म कलंकों से मुक्त होकर और अपने स्वरूप में उत्कृष्ट विकसित होकर अतीन्द्रिय अनन्त सुख का अनुभव करते हैं ।

मुक्त जीव में जीवत्व, चेतयितृत्व, उपयोगित्व, प्रभुत्व व कर्तृत्व—इससे पहिली गाथा में जीव के विशेषण बताये गये थे । उन विशेषणों को सिद्ध में भी घटा लीजिए, घट जायगा । इस मुक्त जीव के जीवत्व है । जीव का जो भाव प्राण है ज्ञानदर्शन; उस भाव प्राण का धारण होने से उन भाव प्राणों से प्रति समय यह जीता रहता है, सद्भाव रहा करता है, यही मुक्त का जीवत्व है । दूसरा विशेषण था जीव चेतन है, इसमें चेतयितृत्व है । तो चेतयितापना तो सिद्ध प्रभु में स्पष्ट है । शक्ति से चित्स्वरूप, व्यक्ति से चित्स्वरूप शाश्वत शुद्ध चैतन्यमात्र प्रकट यह मुक्त प्रभु है । तीसरा विशेषण था—उपयोगविशेषित है । चैतन्यस्वभाव का शुद्धपरिणमन केवलज्ञान और केवलदर्शन के रूप में प्रकट होता है, ऐसे उत्कृष्ट उपयोग से वह युक्त है ।

चौथा विशेषण था कि यह जीव प्रभु है । समस्त अधिकार शक्ति की रचना का जो स्वामी हो उसका ही तो नाम प्रभु है । ये सभी विशेषण संसारी जीवों में भी घटित होते हैं, सिद्ध में भी घटित होते हैं, पद्धति का भेद है । सिद्ध भगवान अब निरन्तर सदाकाल अपने आपमें शुद्ध ज्ञानरूप शुद्ध आनन्दरूप परिणमते रहेंगे, ऐसी अधिकार शक्ति उनके प्राप्त हुई है । समस्त अधिकार शक्ति की रचना में जो युक्त हैं उन्हें ही तो प्रभु कहते हैं । यह मुक्त जीव प्रभु है । इसमें कर्तृत्व भी है । कर्तृत्व नाम है अपने असाधारण स्वरूप रचना करते रहना । साधारण रूप में कर्तृत्व का प्रश्न ही नहीं है, अनादि अनन्त एक शक्ति मात्र है । उस शक्ति का असाधारण स्वरूप प्रति समय कुछ न कुछ रहा करता है । कोई व्यक्ति हुए बिना शक्ति क्या चीज है? जितनी भी शक्तियाँ हैं, उनकी किसी न किसी रूप में व्यक्ति रहती है । चाहे वह व्यक्ति समझ में आये अथवा न आये, यह कर्तृत्व है । यह सिद्ध प्रभु अपने इस असाधारण रूप से केवलज्ञान रूप से, दर्शन रूप से शक्ति और आनन्दरूप से अपने आपका रचयिता रहना इसका ही नाम कर्तृत्व है और सिद्ध प्रभु में ऐसा कर्तृत्व सदैव रहता है, रहेगा ।

मुक्तजीव में भोक्तृत्व व देहमात्रत्व—इसके बाद का विशेषण था जीव भोक्ता है, यह सिद्ध प्रभु भी भोक्ता हैं, ये भी भोगते रहते हैं । अपने स्वरूपभूत, स्वतंत्रता रूप, शुद्ध आनन्द की उपलब्धि रूप अपनी परिणति को ये सदाकाल भोगते रहते हैं । भोगना, अनुभवना, परिणमना, वर्तना यों धीरे-धीरे विशेष अर्थ से सामान्य अर्थ की ओर पर्यायवाची शब्दों के सहारे चलते जाइये । तो भोगना क्या हुआ? वर्तना का नाम भोगना है । यह सिद्ध प्रभु अनन्त चतुष्टय सम्पन्न वर्तते रहते हैं । इसके बाद विशेषण दिया था—जीव देहमात्र है । सिद्ध होने से पहिले जो अवस्था प्राप्त थी, जो कि अतीत हो गया, विलीन हो गया उस अतीत शरीर के परिमाण में अब भी उनका अवगाह है । यह सिद्ध प्रभु चरम शरीर प्रमाण अपनी अवगाहना को लिए हुए हैं । काहे की अवगाहना? ज्ञानादिक स्वरूप की अवगाहना । यों यह देहमात्र ही हैं । देह तो नहीं रहा, पर जैसे सुनार लोग गहने बनाते हैं, मोम गल जाय तो अब कोई मैटर तो नहीं रहा, पर तदाकार एक अवगाह हो गया, ऐसे ही शरीर तो अब नहीं है सिद्ध प्रभु के, किन्तु जिस शरीर को तजकर वे मुक्त हुए हैं उस शरीर प्रमाण उनके प्रदेशों में उनका स्वरूप ज्ञान, दर्शनशक्ति आनन्द आदि व

उनकी व्यक्तियां रहा करती हैं । यों सिद्ध प्रभु देहमात्र हैं ।

मुक्त जीव में अमूर्तता व निष्कर्मता—ये मूर्त किसी भी प्रकार नहीं हैं, इसलिए अमूर्त विशेषण के प्रसंग में उनमें अमूर्त तत्त्व ही निरखना । उपाधि का सम्बंध सदाकाल के लिए हट गया है, इसलिए आत्यंतिक अमूर्तपना उनमें प्रकट है । अंतिम विशेषण था जीव कर्मसंयुक्त है । तो सीधे-सीधे तो यों निरखना कि उनमें किसी प्रकार के कर्मों का संयोग नहीं है, न द्रव्यकर्म का सम्बंध है और न भावकर्म का सम्बंध है । द्रव्यकर्म तो कहलाता है पुद्गल स्कंध और भावकर्म कहलाता है इस चेतन का संयोग । दोनों प्रकार के कर्म नहीं हैं, अत: सिद्धप्रभु कर्मसंयुक्त नहीं हैं, और मानना ही है कर्मसंयुक्त तो कर्म का अर्थ है क्रियापरिणति । सिद्धप्रभु की भी जो परिणति हो रही है वही उनके कर्म हैं, वही उनका धर्म है । उस कर्म से वे सदा सत् रहेंगे अनंतकाल तक । उनके कर्म हैं शुद्ध ज्ञानरूप परिणमन, शुद्ध आनन्दरूप परिणमन । इस प्रकार की क्रिया से वे सदैव संयुक्त रहेंगे । यों सिद्धप्रभु कैसे हैं, कहाँ रहते हैं, क्या करते हैं, इन तीन बातों का समाधान इस गाथा द्वारा किया है ।

संसारी जीव की कर्मसंयुक्तता—यह संसारी जीव कर्मसंयुक्त है । कर्म दो प्रकार के हैं—एक पुद्गल स्कंधरूप द्रव्यकर्म और एक चैतन्य के विवर्त रूप भावकर्म । यह संसारी जीव द्रव्यकर्मों से तो बद्ध है और भावकर्म से तादात्व काल में तन्मय है । भावकर्म चैतन्य के विवर्त हैं । यह चैतन्यशक्ति अनादिकाल से ज्ञानावरणादिक कर्मों के सम्पर्क में अवरुद्ध हो रही है अर्थात् इसका प्रचार घुट गया है । जैसे कोई अन्दर में तो जान रख रहा है, पर बाहर उसका विकास नहीं हो पाता, ऐसे ही यह चैतन्यशक्ति अन्तरङ्ग में तो सब कुछ वह है अनन्त महिमा वाली, किन्तु उसका विकास नहीं हो पाता, इस कारण यह शक्ति घुट रही है, और इस प्रकार यह चैतन्य शक्ति ज्ञेयभूत समस्त पदार्थों के एकदेश में ही क्रम से व्यापार कर रही है और इस प्रकार के व्यापार में जो कुछ गुजर रहा है वही चैतन्य का विवर्त है । इस तरंग ने ही दो बाधाएँ डाल दी हैं ज्ञानविकास में । एक तो सबको नहीं जान सकता और एक क्रम से जानता है । जितने को भी यह जान सकता है उतने को भी एक साथ जान ले, ऐसा भी नहीं है । इस प्रकार यह जीव संसार में भावकर्म से संयुक्त है, किन्तु सिद्ध प्रभु उन कर्मों से रहित हैं ।

सिद्ध प्रभु की निरुपाधिता—सिद्ध प्रभु कर्मों से कैसे रहित हो गये? यह तो मानना ही पड़ेगा कि कोई पदार्थ अपने स्वभाव से विपरीत परिणमे तो उसमें किसी न किसी परद्रव्य का सम्पर्क निमित्त है । यद्यपि प्रत्येक पदार्थ अपनी ही शक्ति और परिणमन से परिणमते हैं, निमित्तभूत किसी पदार्थ की रंचमात्र भी शक्ति को लेकर, परिणमन को लेकर, प्रभाव को लेकर नहीं परिणमते हैं । प्रभाव भी शक्ति के विकास के अलावा और कुछ चीज नहीं । यह कहना कि उसका प्रभाव इन पर अच्छा पड़ा, यह उपचार कथन है । बात वहाँ यह थी कि ये लोग स्वयं उसके सम्बंध में कुछ विचार बनाकर अपने प्रभाव से प्रभावित होते हैं, उसका प्रभाव इन पर नहीं पड़ा है । प्रभाव भी उपादान का है । प्रत्येक पदार्थ अपने ही परिणमन से परिणमते हैं, किन्तु विभावरूप परिणमन की योग्यता रखने वाले पदार्थ किसी परपदार्थ को निमित्त करके ही अपने प्रभाव से अपने परिणमन से परिणमा करते हैं । फिर भी यह तो मानना ही होगा कि विपरीत परिणमन किसी परपदार्थ का निमित्त हुए बिना होता नहीं है । यह बात अवश्य है कि जो अयोग्य उपादान वाला है अर्थात् अशुद्ध परिणमन की योग्यता रखता है वह पदार्थ, चूंकि निमित्त तो सब जगह भरे ही हैं, सो निमित्त मिलता है और वह विरुद्ध परिणमता है, किन्तु विरुद्ध परिणमनरूप प्रभाव स्वयं अपने आप केवल ही रहकर परसम्पर्क बिना होता नहीं है । उपाधि बिना विभावपरिणमन हो जाय, ऐसा एक भी उदाहरण न मिलेगा ।

कर्मप्रक्षय से अभूतपूर्वविकास—जिस समय ज्ञानावरणादिक कर्मों का सम्पर्क दूर होता है, ज्ञानावरणादिक के सम्पर्क के दूर होने में निमित्त आत्मा का शुद्ध परिणाम है, जब ज्ञानावरणादिक कर्मों का सम्बन्ध दूर होता है तो ज्ञेयभूत जो समस्त विश्व है उस सबके सबमें एक साथ व्यापार करने लगती है यह

चेतना शक्ति, और जब सारे विश्व को एक साथ जान लिया तीन लोक, तीनकालवर्ती समस्त पदार्थों को एक साथ जान लिया तो अगले समय में क्या जानेंगे? वही का वही । जैसे सब जान लिया गया तो अगले समय में क्या जानेंगे? सब वहाँ इतना भी विकल्प नहीं होता कि यह पदार्थ यह पर्याय हुई थी, है, होगी और अगले समय में जो होगा अब वह है और जो है माना वह था, हो गया । इस प्रकार कालकृत भी विकल्प उनमें नहीं होता है और इसी कारण यह कहा गया है कि वे समस्त पदार्थ उनके ज्ञान में वर्तमान ही हैं, कथंचित् इसी कारण वे कूटस्थ हैं ।

सिद्ध प्रभु की अविवर्तता—यद्यपि प्रतिसमय में ज्ञानशक्ति का नया-नया विकास हो रहा है, परिणमन चल रहा है, किन्तु उसके विषय की ओर से देखा जाय तो वही-वही ज्ञात है, इस कारण वहाँ परिणति भिन्न नहीं मालूम होती । इसी कारण कथंचित् कूटस्थपने को प्राप्त हो गया उनका वह चेतन यह दृष्टि में आता है । अब इस परिणमन को विवर्त नहीं कहा । यद्यपि प्रतिसमय परिणमन हो रहा है लेकिन विषयांतर को प्राप्त हो तो विवर्त नाम है। वह विषयान्तर को प्राप्त होता ही नहीं, भला सब जान लिया । अब सबसे अतिरिक्त कोई विषय हो और फिर उसे जाने तो वहाँ विवर्तपना आयगा । अथवा आन्तरिक दृष्टि से निरखो तो उनका विषय अपने आपके उपयोग में अपने आपका ही प्रकाश पड़ा हुआ है । वह कभी अन्य ज्ञेयरूप परद्रव्य को प्राप्त नहीं होता अर्थात् परपरिणति उनमें नहीं हुआ करती है । परपदार्थों का निमित्त पाकर रागद्वेष की तरंग उनमें नहीं होती इस कारण उनके परिणमन को विवर्त नहीं कहा गया है । जो विवर्त है वह भावकर्म है । सिद्धप्रभु भावकर्म से भी रहित हैं ।

मोह में सुगममार्ग की विषमता—देखो निर्दोषता के इस चमत्कार से प्रभु में सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता की उपलब्धि हुई है । यह ही कर्मों के कारणभूत भावकर्म के कर्तृत्व का उच्छेद है । सीधा-सा काम बड़ा कठिन लग रहा है और कठिन-सा काम बड़ा सरल लग रहा है । भोजन करना कठिन काम है, लेकिन ऐसा सरल लग रहा है कि दूसरे के सिर पर चढ़कर भोजन करेंगे । कुछ गलती हो जाय, खराबी बन जाय तो नाराज हो गये, यह बड़ा सरल लग रहा है और आत्मदृष्टि का काम जो कि स्वयं के स्वरूप है वह बड़ा कठिन लग रहा है । देखिये—यहाँ बैठे हैं, अपना शरीर, शरीर में है, यह जीव, जीव में है, स्वतंत्र है, किसी की कोई पराधीनता नहीं है । यहाँ भय है । सब ओर से विकल्प तोड़कर स्वयं जो कुछ यह गुनगुनाने वाला है, जाननहार है, इस जाननहार में अपने आप में अपने आप अपने आपको प्रकाश में ले लूँ, यह कोई कठिन बात है क्या? पर क्या दृष्टि नहीं है, रुचि नहीं है तो कठिन तो क्या, असम्भव बना रखी है । मुझ चित्शक्ति का स्वभाव ही सर्वज्ञ रूप से विकास करने का है, सर्वदर्शी रूप से विकास करने का है । विकास में भावकर्म नहीं है, द्रव्यकर्म नहीं है, ऐसे अद्भुत चमत्कार की प्रीति न करके बाह्य में जड़ सम्पदा का, मलमूत्र आदिक मलों से भरे हुए शरीर का और मोही कलुषित जीवों के द्वारा दो-चार प्रशंसा के शब्द सुनने का लोभी बन रहा है । अपने उस अनन्त चैतन्य चमत्कार की रुचि न करना, बस इसी का नाम मूढ़ता है । यही बहिरात्मापन है ।

सिद्ध प्रभु में भोक्तृत्व का उच्छेद व शुद्ध भोक्तृत्व—सिद्धों में विकारपूर्वक अनुभव नहीं हो रहा, सो भोक्तृत्व का विनाश भी है । यह जीव सुख दुःख का परिणाम भोगने से ही भोक्ता कहलाता है । यह जीव भोक्ता है किसका? सुख का अथवा दुःख का । सुख और दुःख भी उपाधिजन्य भाव हैं । सिद्धप्रभु के इस प्रकार का भोक्तृत्व नहीं है, किन्तु किसे भोग रहे हैं वे? स्वयं के स्वरूप के अनुभवरूप सुख के वे भोक्ता हैं । जो इसे चित्तत्त्व में विवर्त हो रहे थे उन विवर्तों का खुद का अब विनाश हो गया, तरंगें ही नहीं होतीं । यह ज्ञान स्वभावत: प्रकाशरूप विस्तृत हो गया है उस चैतन्य का, उस चैतन्यात्मक आत्मतत्त्व का, जो कि अनन्त सुखस्वरूप है उसका यह भोक्ता है । इस प्रकार मुक्त जीवों को इसमें निरुपाधिस्वरूप कहा गया है ।

प्रभुपरिचय की पात्रता—सिद्धप्रभु का परिचय हम आप तब तक नहीं पा सकते जब तक हम अपने

को केवल न निरख सकें, क्योंकि वह केवल है । यद्यपि देह का, कर्म का हम आपके साथ बन्धन है, पर बन्धन होते हुए भी जब हम स्वभावदृष्टि में पहुंचते हैं तो वहाँ उपयोग में बन्धन है ही नहीं । द्रव्य-द्रव्य का बन्धन है अथवा बाह्य बन्धन है । इस स्वभाव में, इस उपयोग में कोई बन्धन नहीं है । यों हम निर्बन्धदृष्टि से अपने आपको निहारे, तो हम सिद्धप्रभु का कुछ परिचय पा सकते हैं, और वह परिचय हमें ज्ञान और आनन्द के अनुभव के रूप में मिलेगा, ऐसा किया जा सकता है । परिस्थिति कुछ हो और अनुभव शुद्ध स्वभाव का किया जा रहा हो, ज्ञानबल में ऐसा ही चमत्कार है । जहाँ हम अपने आपके स्वभाव को अपनी दृष्टि में लें । वहाँ हम केवल ही अनुभव में आयेंगे, और तब सिद्ध प्रभु के आनन्द का और उनकी परिस्थिति का हमें अनुमान होगा ।

बन्धन होने पर भी अबद्धता—देखिये तालाब में जहाँ कमल का बगीचा लग रहा है, कमल के पत्ते इतने चिकने होते हैं कि उन पर पानी पारे की तरह यहाँ वहाँ ढेले के रूप में लुढ़कता रहता है । उस बगीचे में कमलपत्र को हम जब बाह्यदृष्टि से देखते हैं तो वह पानी से संयुक्त है, पानी से बँधा हुआ है, छुवा है, और जब हम उस कमलपत्र को ही केवल निहारते हैं, उसका स्वभाव देखते हैं तो वहाँ यही नजर आता है कि पत्ते में पत्ते हैं, इनमें पानी का सम्बंध नहीं है । बाह्यदृष्टि में सम्बंध है और पत्र के स्वभाव को देखते हैं तो उसमें पानी का सम्बंध नहीं है । ऐसे ही मुझमें कर्मों का और शरीर का सम्बंध है, परिस्थिति तो ऐसी है और जब हम बाह्यदृष्टि करके देखते हैं तो यह ही नजर आता है, बन्धन ही बन्धन समझ में आ रहा है । इस परिस्थिति में भी हम केवल अपने स्वभाव पर दृष्टि दें ।

स्वभावदृष्टि की अलौकिकता—देखिये स्वभावदृष्टि रखने वाले पुरुष का अलौकिक परिणमन होता है । उसे घर-बार, लौकिक यश, लौकिक अपयश, दुकान, वैभव, परिजन, कुटुम्ब, देह किसी भी प्रकार का विकल्प नहीं रहता । यदि ऐसी स्थिति बनी है तब तो ठीक है, और विकल्पों से तो विराम न हो और चूंकि शास्त्रों में लिखा है उसका आधार बनाकर अपने आपको ज्ञानी मानकर फिर विकल्पों में मौज बनाकर जीवन बितावें, यह लाभकर नहीं है । हम ज्ञानस्वभाव को पा चुके हैं, उसकी पहिचान एक थोड़ी-सी इस रूप में हो जाती है कि हमें किसी परद्रव्य का विकल्प तो न था उस क्षण, यदि ऐसी निर्विकल्प परिस्थिति में जब हम अपने स्वभाव को देख रहे हों उस समय तो इसका बंधन नहीं है, भले ही ऐसा ज्ञानी पुरुष किसी दुष्ट राजा आदि के द्वारा बन्धन में डाल दिया जाय, कारागार की कोठरी में उसे बंद कर दिया जाय, फिर भी उस ज्ञानी का उपयोग जब अपने स्वभाव में पहुंचता है, रमता है तो उस समय भी कोई बंधन ही नहीं है । शरीर भी जिसका बन्धन नहीं है उपयोग में उसके लिए कारागर की कोठरी क्या बन्धन बनेगी? स्वभावदृष्टि से जब हम अपने को निरखते हैं तो हम वहाँ अपने को बन्धनरहित पाते हैं ।

परिणति में दृष्टि की अनुसारिता—भैया ! निर्बन्धस्वभाव की उपासना करने में निर्बन्ध दशाएँ प्रकट होती हैं । कारण की तरह ही कार्य हुआ करता है । हम चाहें यह कि हम सदा के लिए शरीर से छुटकारा पा लें और शरीर को ही मानते रहें कि यह मैं हूँ तो कारण तो विपरीत बनाया, शरीर से छुटकारा कैसे होगा? यदि हम शरीर से सदा के लिए मुक्त होना चाहते हैं तो हमारी अब से ही यह भावना होनी चाहिए कि मैं शरीर से जुदा हूँ, और भावना क्या, इस प्रकार का दर्शन भी अपने आपमें होते रहना चाहिए कि मैं तो एक चित्प्रकाशमात्र हूँ, विविक्त पदार्थ हूँ । यह अपनी चिन्मात्रता निरखे तो विविक्त हो सकेगा, मुक्त हो सकेगा । और यह शरीर ही मैं हूँ, इस प्रकार का विश्वास रक्खें तो ये शरीर मिलते रहेंगे । ये शरीर बने रहने का उपाय है शरीर को आत्मा मानता । और शरीर से छूटने का उपाय है शरीर से भिन्न चैतन्यमात्र आत्मा में प्रतीति करना ।

बड़े कार्यों की छोटी-सी कुञ्जी—देखिये कितना बड़ा काम है? संसार का मिलता रहना यह भी बहुत बड़ा काम है, फिर शरीर मिला, फिर अनेक परिणमन हुए, फिर अनेक संगम मिले, फिर मरण हुआ, फिर

और बातें हुईं यह क्या छोटा-छोटा काम है? कीड़ा बन गये, पेड़ बन गए, पशु बन गये, मनुष्य बन गये, राजपाट भोग लिया, चला वाला हो गया, फिर कीड़ा-मकोड़ा बन गया, ऐसी विभिन्न प्रकार की अवस्थावों का ग्रहण करना यह भी बहुत लम्बा चौड़ा बड़ा काम है और शरीर से कर्मों से रहित होकर एक अपनी इस शक्ति में, ज्ञान में समस्त ज्ञेयों को झलका लेना, सबका एक साथ भीतर ज्ञान करते चले जा रहे हैं यह भी बहुत बड़ा काम है । दोनों बड़े काम हैं, संसार में रुलना यह भी बड़ा काम है और मुक्त होकर अनन्त काल के लिए शुद्ध ज्ञान और आनन्द का अनुभव करना, समस्त विश्व को एक साथ जानना देखना, यह भी बहुत बड़ा काम है । और इन दोनों बड़े कामों के करने की कुञ्जी बहुत छोटी है, साधारण है, उपाय बिल्कुल साधारण है । संसार के बड़े काम का उपाय मूल में इतना ही है कि शरीर को मान लें कि यह मैं हूँ । बहुत बड़े श्रम की बात तो नहीं कही जा रही है, बहुत छोटी-सी बात है । शरीर को मान ले कि यह मैं हूँ, फिर इतने बडे संसार का काम सुगमतया होता रहेगा और मोक्ष के बड़े काम का भी उपाय बहुत सीधा छोटा-सा है । शरीरादिक परद्रव्यों से न्यारे इस ज्ञानप्रकाश को मान लें कि यह मैं हूँ, कितना सस्ता सौदा है? केवल मानने पर ही इतना बड़ा काम हो जाता है । तो यह मोक्षमार्ग केवल एक इस भेद भावना पर निर्भर है ।

धर्मपालन में मूल पुरुषार्थ—धर्मपालन करो, धर्मपालन करो—ऐसी अपने आपकी प्रेरणा जगे अथवा दूसरों से उपदेश मिले तो यह तो बतावो कि धर्म के पालन में करना क्या है? एक ऐसी मूल बात बतावो जिसका कहीं विरोध न बैठे, विघात न हो, खण्डन न हो और कभी उससे विपरीत फिर दूसरी बात न कहनी पड़े । ऐसा कुछ काम तो बतावो जिसको कि धर्मपालन करना कहते हैं । कहकर फिर उससे हटना नहीं, किसी भी परिस्थिति में, ऐसी धर्मपालन की बात बता दो जो हमें प्रारम्भ से लेकर अन्त तक वही-वही करने को पड़ा हो । वह धर्मपालन क्या है? अपने आप में जो सहजस्वरूप है उस रूप अपने को मान लेना, बस यही धर्मपालन है । प्रारम्भ में भी लोग यही करते हैं, मध्य में लोग यही करते हैं और अन्त में भी लोग यही करते हैं । गृहस्थों का भी इसमें धर्मपालन है और साधुवों का भी इसमें धर्मपालन है । बस भेद पड़ा है बाहरी परिस्थिति का । चूँकि गृहस्थ के गृहस्थी है और परिग्रह आदि हैं अतएव उनके विकल्प विस्तार का मौका अधिक रहा करता है । विकल्प विस्तार किस प्रकार मिटे उस परिस्थिति में, उसके उपाय में जो कुछ तन, मन, धन, वचन की क्रियाएँ की जाती हैं वे व्यवहारधर्म हैं।

व्यवहारधर्म की उपयोगिता—व्यवहारधर्म बाड़ का काम करता है । जैसे खेत में फसल खड़ी है, उसे कोई उजाड़ न दे, इसके लिए खाई और बाड़ आलम्बन है, इसी प्रकार मुझे स्वभावालम्बन का धर्म पालन करना है, हमारे भीतर यह कृषि है, उस स्वभावालम्बन रूप धर्म को ये विषयकषाय के पशु उजाड़ न दें, उनसे उजाड़ रोकने के लिए व्यवहारधर्म हमारे लिए बाड़ का जैसा काम करता है । और उस व्यवहारधर्म को करते हुए हम अपने आपमें सुरक्षित रहते हैं, और उस सुरक्षा में हम धर्मपालन जितना कर सकते हैं कर लेते हैं, यही है धर्मपालन।

आत्मकर्त्तव्य—प्रयोजन यह है कि निरुपाधि केवल सिद्ध भगवंत का जैसा परिणमन है, चमत्कार है वैसा ही बनने की हम आप में सामर्थ्य है । वैसा बनने का प्रोग्राम बनायें । उस प्रोग्राम में मूल में हमें यही करना होगा कि हम सब परद्रव्यों परभावों के विकल्प से विश्राम पाये और केवल अपने शुद्ध चैतन्यप्रकाश को निरख लें, यही निरुपाधि होने का उपाय है । हम यदि अभी से अपने को निरुपाधिस्वरूप में तक सकते हैं तो हम भविष्य में निरुपाधि बन जायेंगे । अत: कर्तव्य यह है कि हम अपने आपकी प्रतीति केवलज्ञान तेज रूप में बनायें—मेरा तो यह है, मेरा तो यह है, मेरा सर्वस्व, मेरा शरण, मेरा सार यह आत्मतत्त्व है । ऐसी दृष्टि आत्मदृष्टि बनायें, इसमें ही अपना कल्याण है ।

गाथा २९

जादो सयं स चेदा सव्वण्हू सव्वलोगदरिसी य ।
पप्पोदि सुहमणंतं अव्वाबाधं सगममुत्तं ।।२९।।

शक्ति और व्यक्ति —यह चेतयिता स्वयं सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होकर अनंत अव्याबाध सुखों को प्राप्त करता है । यह आत्मा ज्ञान दर्शन सुखस्वभाव वाला है । जो शक्ति जिस द्रव्य में नहीं होती है उसका विकास कहाँ से होगा? कोई-सा भी विकास, परिणमन किसी अन्य द्रव्य से नहीं आता । अपने में ही रहने वाली शक्ति का विकास ही परिणमन है । ज्ञान, दर्शन, आनन्दस्वभाव वाला होकर भी संसार अवस्था में अनादिकाल से कर्म संक्लेश के कारण इसकी आत्मशक्ति संकुचित हो गयी है । अब परद्रव्यों के सम्पर्क से क्रम-क्रम से कुछ-कुछ जानता है, देखता है और ऐसे सुख का भी कदाचित् अनुभव करता है जो पराधीन है, मूर्तिक पदार्थों के सम्बंध से हुआ है, जिसमें अनेक बाधायें हैं, ऐसे सांसारिक सुख का अनुभव भी वह करता है ।

सांसारिक सुखों की पराधीनता—संसार में जितने भी सुख हैं वे सब सुख परापेक्ष हैं, यद्यपि वह सुखपरिणमन आत्मा की आनन्दशक्ति का ही विकास है, फिर भी किसी परपदार्थ की दृष्टि हुए बिना, किसी पर को कल्पना में लाये बिना सांसारिक सुख की प्रादुर्भूति नहीं होती है, इस कारण ये समस्त सुख पराधीन हैं । जैन नाम तो वास्तव में उसका है जो जिन भगवान के इस तात्विक उपदेश को अपने चित्त में उतारे । न अपने चित्त में उतारे कोई तो, जैन नाम कहलवा लेने से कहीं शान्ति का मार्ग नही मिलता । शान्ति तो शान्ति की पद्धति से ही होती है ।

वास्तविक देवभक्ति—अधिक आसक्ति हो, तृष्णा हो, यह मेरा है यह पराया है इस प्रकार की कुवासना होना, ये सब बातें चित्त में हों तो हमने भगवान की क्या भक्ति की? भगवान की आज्ञा के विरुद्ध चलें और वचनों से केवल भगवान की प्रशंसा कर दें तो इतने मात्र से भक्ति भी नहीं होती । सही भक्ति आज्ञाकारिता में है । चित्त में कभी-कभी तो सब जीवों का समान स्थान आ जाना चाहिए । अरे किसी दिन तो माने हुए परिजनों को छोड़कर जाना ही होगा । फिर ये परिजन क्या तुम्हारे कुछ होंगे? भला हो कि अपने ही इस जीवन में गृहस्थ होकर भी चित्त को इतना उदार बनायें कि इसमें यह मेरा है, यह पराया है—इस तरह की कुवासना की मुद्रा न बने तो यह पुरुष, अर्थात् आत्मा ज्ञान दर्शन सुख स्वभाव वाले अपने स्वभाव को निहार सकता है । यदि यह निहारता है अपने स्वरूप को तो इसका विकास कर लेगा । नहीं निहारता है तो अन्य पदार्थों की भीख माँगना, आशा करना यह अपने क्लेश संक्लेश से पाप का बन्ध करेगा । ये सांसारिक सुख पराधीन हैं । सिद्ध भगवान का आनन्द स्वाधीन, है, यही तो अन्तर है, नहीं तो सिद्ध पूज्य किस बात से होंगे?

सांसारिक सुख की पराधीनता का संक्षिप्त विवरण—भैया ! कितनी अधीनताएं हैं सांसारिक सुख में? मूल में तो अनुकूल कर्मोदय हो, साथ ही कुछ उदय के विपाक के सहारे नोकर्म, साधन, विषयों का सम्बन्ध मिले । अब व्यवहारदृष्टि से देखो—लौकिक समागम जिनको प्राप्त है वे प्रसन्न रहें, अनुकूल रहें, उन्हें अपनाये, सब बातें बने तो सांसारिक सुख मिले, किन्तु ऐसा होना इनके अधीन नहीं है । सभी चीजें अपना-अपना अस्तित्व लिए हुए हैं । उनकी कषाय उनमें उनके रूप है । कोई जीव वस्तुत: मुझे चाहता नहीं है, वे अपने आपके ही विषय को चाहते हैं । दूसरों के चाहने में उनकी पूर्ति में यदि मैं निमित्त हो सकता हूँ तो उसका ख्याल कर के वे लोग कहा करते हैं कि हमें इनसे प्रेम है । कोई जीव किसी दूसरे से प्रेम कर ही नहीं सकता, चाहे वह पिता-पुत्र हो, चाहे पति-पत्नी हो, कोई हो, यह वस्तु का अकाट्य

स्वरूप है । कोई किसी से न प्रेम कर सकता है, न द्वेष कर सकता है । क्या वास्ता है? प्रत्येक पदार्थ अपना स्वरूप लिए है, अपने आपमें परिणमता है । इस कारण अपने में कितनी भी चाह बनाये तो भी पर की सिद्धि नहीं होती । सांसारिक सुख में बड़ी पराधीनता है और कदाचित् पुण्य का ऐसा ही सुयोग मिल रहा है, सुख मिलता जा रहा है, वर्ष दो वर्ष १० वर्ष बीत गये, बड़ा मौज रहा । किसी दिन बिगड़ गयी तो सारा पन्ना पलट गया । अब जितना अधिक इष्ट माना जाता था उससे कई गुणा अनिष्ट माना जाने लगा । तो ये सांसारिक सुख पराधीन हैं और फिर इनमें है क्या?

कामस्पर्शन में पराधीनता व असारता—सांसारिक सुख ६ भागों में बंटे हुए हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन के सुख । 6 भागों में बंटे हुए इन सुखों में से प्रत्येक पर दृष्टि डालें तो किसी सुख में सार नजर न आयगा । स्पर्शनइन्द्रिय के सुख में लोग कामवासना की पूर्ति को प्रधानता देते हैं । वहाँ भी है क्या? हाड़, मांस, लहू आदि अपवित्र चीजों का यह पिंड है । जब रागभाव न हो उस समय देख लो सारा शरीर गंदा दिखता है कि नहीं, पर जब राग होता है, कामवेदना होती है तो वह गंदा शरीर भी उसको गंदा नहीं नजर आता, किन्तु जब शान्तचित्त हो, वेदना रहित हो उस समय परख लो, अपना शरीर भी गंदा मालूम होगा, अपना शरीर भी बोझ मालूम होगा, पर का शरीर भी बोझ मालूम होगा । और फिर उस क्षणिक सुख से आत्मा को लाभ क्या होता है? अन्त में तो यह पछताता ही है ।

स्पर्शन में अहितता—अन्य भी जो स्पर्शनइन्द्रिय के सुख हैं, स्पर्शन से ठंडी चीज छू ली, सुहा गयी, गर्म चीज छू ली, सुहा गयी, ये भी तो स्पर्शनइन्द्रिय के सुख है । किन्हीं की ऐसी इच्छा होती है कि मुझे शीत और उष्ण का भी समय-समय पर आनन्द रहा करे । हाँ संयम का साधन वर्तमान में यह शरीर है, अकाल के समय में यों ही क्यों इसे गुजार दें, इसलिए तेज लू में न बैठना, कहीं लू लगने से प्राणान्त न हो जाय, अत्यन्त ठंडी शीत जगह में न बने रहना, कहीं निमोनिया होकर प्राणान्त न हो जाय, यह तो विवेक की बात है, लेकिन थोड़ा भी ठंड गर्मी सहने का भाव ही न हो तो यह तो इन्द्रियविषय है । इसमें भी क्या तत्त्व भरा है? थोड़ी-थोड़ी ठंड गर्मी से दूर रहने के परिणाम में केवल विकल्पजालों मे गुँथा रहेगा और उन्हीं कल्पनाओं में दुःखी होगा ।

रसनेन्द्रियज सुख की असारता—रसनाइन्द्रिय का सुख ले लो । उसमें भी क्या तत्त्व है? प्राण रखने के लिए थोड़ा-सा भोजन पानी चाहिए यों समझ लो । यह भी तो इज्जत है, भोजनपान चाहिए । ठीक है, अब उसमें रसीला ही मिले, स्वादिष्ट ही भोजन करें, उससे कौन-सा लाभ लूट लिया? क्षणिक सुख का मौज आ गया, वह तो रौद्रध्यान है । उसमें भी लाभ क्या हुआ? रसीला, गरिष्ठ और इतना ही नहीं भरपेट भोजन भी विषय में शामिल है । कोई यह सोचे कि हम बहुत गरिष्ठ नहीं खा पाते, नहीं मिलता, किन्तु बहुत ठूंस कर खा लें तो ऐसा खाना भी विषय में शामिल है । खाने के बाद खाट पर लेट जाना पड़े, चाहे अनेक कष्ट भी आ जायें, पर हमारा पेट खूब भरा रहे, ऐसी दृष्टि तो रखी तो ऐसा भरपेट भोजन भी रसनाइन्द्रिय के विषय में शामिल है । रसीले स्वादिष्ट भोजन भी रसनाइन्द्रिय के विषय में शामिल हैं । परिणाम क्या होता है? पीछे दु:खी होता है । अपना ही शरीर अपने को बोझल हो जाता है । परिणाम क्या निकला?

घ्राणेन्द्रियज सुख की असारता—घ्राणइन्द्रिय का विषय तो बिल्कुल व्यर्थ-सा लगता है । कुछ इत्र फुलेल आदि सुगंधित पदार्थ सूँघ लिये या कपड़ों में रख लिए ताकि सुगंध मिलती रहे यह तो बिल्कुल बेकार सी चीज है । सारे इन्द्रिय सुखों को देखते जाइये कितने पराधीन हैं और उन विषयसुखों में कितनी दीनता करनी पड़ती है? अन्तरङ्ग का परिणाम कितना कायर बनाना पड़ता है इन विषय सुखों के भोगने के लिए?

नेत्रेन्द्रियज व कर्णेन्द्रियज सुख की असारता—नेत्रइन्द्रिय का सुख तो बड़ा भोंदूपने से भरा हुआ है । कई हाथ दूर वस्तु है । जरा शकल सूरत रूप आकार प्रकार सुहा गये, अब टकटकी लगाये देख रहे हैं, पराधीन हो रहे हैं । ये सब विषय दीनता से ही भोगे जा सकते हैं । शान्ति और वीरता से विषय नहीं भोगे जाते । शान्ति और वीरता तो आत्मउत्थान में मदद देती है । कर्णइन्द्रिय का सुख राग रागिनी के भले शब्द सुन लिये, ठीक है, सुनने की कुछ बात नहीं, किन्तु उसमें आसक्त होना और सुनकर चित्त में राग काम आदि भाव उत्पन्न होने लगना ऐसी आसक्ति कर्णइन्द्रिय के विषय में होती है । कितनी पराधीन बात है? इतने समागम जुटावें, मनावें, खर्च भी करें और फिर दिल भी रखे, इतने पर भी अपने को दीन बनाये बिना कोई-सा भी सुख भोगा नहीं जा सकता।

मानसिक सुख की असारता—मन का सुख यश नामवरी, प्रतिष्ठा, नेतागिरी ये सारी बातें मन के सुख की हैं । इनमें कितना पराधीन बनना पड़ता है? आप लोग तो जानते हैं जब कोई चुनाव का समय आता है तो उम्मीदवार लोग वोटरों को उस समय भगवान मानते हैं । ये हमारा पद रखने वाले हैं । बहुत से तो वोटरों के पैर तक छू डालते हैं । ये सारे सुख पराधीन हैं । ये मूर्त पदार्थों के सम्बन्ध से होते हैं । अमूर्त वस्तु का ध्यान करके कोई विषयसुख हुआ करता है क्या? आप एक शंका कर सकते हैं कि अमूर्त धर्म, अधर्म, आकाश, कालद्रव्यों के सम्बन्ध में चर्चा चलती है और उस चर्चा के भी प्रसंग में सुख होता है तो देखो ना, अमूर्त पदार्थ के सम्बन्ध से भी सांसारिक सुख मिला है या नहीं? नहीं मिला । वह जो सुख लूट रहा है वह अमूर्त पदार्थ के ध्यान का सुख नहीं लूट रहा है, किन्तु जिन लोगों में हम चर्चा करते हैं, जिनसे बात करते हैं उनको मन का विषय बनाया है और उनको विषय बनाकर उस सम्बंध में वे सुख लूट रहे हैं ।

प्रभु के सहजानन्द का विस्तार—ये समस्त सांसारिक सुख बाधासहित हैं, ये दुःखरूप हैं, जिनको प्राप्त करने के लिए लोग अपना जीवन लगा देते हैं । ये सांसारिक सुख नियम से नष्ट होंगे । भगवान सिद्धप्रभु ऐसे सुखों से आत्यंतिक दूर हो गये हैं । वे तो अव्याबाध आत्माधीन अमूर्त अनन्त सुखों को प्राप्त करते हैं । जिस समय इस आत्मा के कर्म क्लेश समस्त रूप से नष्ट हो जाते हैं तब अनर्गल अर्थात् बेरोक-टोक आत्मशक्ति विस्तृत हो जाती है तब यह प्रभु एकसाथ समस्त परिणमनों को जानते और देखते हैं, और साथ ही साथ अपने ही आपके निमित्त से बाधारहित अनन्त सुख का अनुभव करते है।

सर्वज्ञसिद्धि की झांकी—इस गाथा में दो बातों पर दृष्टि दिलायी है—एक तो यह कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप सर्वज्ञता का है, इसका स्वभाव अथवा इसका स्वाभाविक कार्य सबको जानने का है, जानने के लिए यत्न नहीं करना है, जानन का तो स्वभाव ही बना हुआ है, पर यह स्वभाव कैसे विकसित होता है उसका उपाय केवल पारमार्थिक अंतस्तत्त्व का आलम्बन है । कुछ लोग कहते हैं कि सर्वज्ञ नाम की कोई चीज नहीं है, क्योंकि वह दिख ही नहीं रहा है । सर्वज्ञ का निषेध करने में कुछ ज्यादा बात नहीं करना है, दिख नहीं रहा—इतना ही कह दो । हो सर्वज्ञ तो बता दो । इसका समाधान सुनिये—यह तो बतावो कि सर्वज्ञ नहीं है ऐसा जो तुम कहते हो तो इस देश में सर्वज्ञ नहीं है या सर्व देशों में सर्वज्ञ नहीं है, इस काल में सर्वज्ञ नहीं है या भूत वर्तमान के सब कालों में सर्वज्ञ नहीं है । सर्वज्ञ का निषेध करने में तुम्हारा मतलब है क्या? यदि कहोगे कि इस देश और इस काल में सर्वज्ञ नहीं है तो यह तो सही बात है, इसमें गलत कुछ नहीं है । यदि यह कहें कि सारे जगत में और समस्त काल में सर्वज्ञ नहीं है तो यह बतावो कि तुम सारे जगत को देख करके कह रहे हो या सारे जगत को देखे बिना कह रहे हो । तुम समस्त काल की बातों को जानकर कह रहे हो कि सर्वज्ञ नहीं है या बिना जाने कह रहे हो? बिना जानकर कह रहे हो तो तुम्हारी बात प्रामाणिक नहीं है, तुमने सर्व देशों को देखा ही नहीं है । सब जगह

देख लो और फिर न मिले सर्वज्ञ तो मना करो । सर्वदेश सर्वकाल में देख लो, यदि नहीं है सर्वज्ञ तो यह बात कही जा सकती है कि सर्वज्ञ नहीं है । यदि कहो कि हाँ हमने सर्व देश सर्व काल में देख लिया, कहीं सर्वज्ञ नहीं है तब तो हम आपकी पूजा शुरू कर दें, क्योंकि तुम्हीं सर्वज्ञ हो गये । समस्त लोक को समस्त काल को तुमने देख लिया तो तुम्हीं सर्वज्ञ हो गये । मना क्यों करते हो?

सर्वज्ञत्व के निराकरण के हेतु का निराकरण—सर्वज्ञसिद्धि के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि सर्वज्ञ न मिल रहा हो तो आपको ही वह अनुपलब्ध है या तीन लोक तीन काल में सबको अनुपलब्ध है? आपके अनुलब्ध मात्र से सर्वज्ञ का अभाव न हो जायगा । कई लोगों को अमेरिका, कनाडा या और छोटे देश जिन में गति नहीं है उनकी अनुपलब्धि है तो क्या उनकी अनुपलब्धि से उन देशों का अभाव हो जायगा? आप यहाँ बैठे हैं, आपको यह पता नहीं है कि पीठ पीछे कौन बैठा है तो क्या उस पीठ पीछे बैठे हुए का अभाव हो जायगा? दूसरें के चित्त की बात की भी हमें अनुपलब्धि है, हमें दूसरे के मन की बात मालूम है क्या? नहीं मालूम है तो क्या उस दूसरे की चित्त की बात का अभाव हो जायगा? नहीं हो जायगा । यदि यह कहो कि तीन लोक तीन काल वाले सब पुरुषों को भी सर्वज्ञ की अनुपलब्धि है तो तुमने उन सबकी परख कर ली क्या? कर ली तो तुम्हीं सर्वज्ञ हो गये । (हँसी) । ये समस्त पदार्थ किसी न किसी के द्वारा अवश्य ज्ञेय हैं, क्योंकि ये हैं ।

सर्वज्ञत्व स्वभाव की सिद्धि—भैया ! सीधा यह प्रकाश भी देखें कि जब ज्ञान का स्वभाव जानन का है तो जानने में बाधा देने वाली ये इन्द्रियाँ, शरीर कर्म जब नहीं रहे, फिर जानने का स्वभाव तो बेरोक-टोक सर्वत्र विकसित होगा ना, उसमें सीमा अब कौन करेगा कि यह ज्ञान अब यहाँ तक ही जाने । जब तक इन्द्रिय का सम्पर्क है तब तक इनके विकास में सीमा है, जब अवरोधक नहीं रहता तो सीमा क्यों रहेगी? यों यह प्रभु ज्ञानावरण, दर्शनावरण के क्षय से सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं और मोहनीय और अन्तराय के क्षय से ये अपूर्व आनन्द को भोग रहे हैं । सिद्ध भगवान जो समस्त पदार्थों को स्वयमेव जानते देखते हैं वे स्वयमेव ही आत्मीय आनन्द का अनुभव करते हैं और ये स्वयं के लिए सब कुछ हैं । इनका पर से कुछ प्रयोजन नहीं रहा । यों सिद्ध भगवान का उपाधिरहित ज्ञान है, दर्शन है, आनन्द है । इसका समर्थन इस गाथा में किया गया है ।

गाथा ३०

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो ।।३०।।

प्राणों से जीवत्व—इस गाथा में जीवत्वगुण की व्याख्या की गई है । जो चार प्राणों कर जीवित है, जीवित रहेगा अथवा जीवित था उसे जीव कहते हैं । वे चार प्राण हैं—बल, इन्द्रिय, आयु और श्वासोच्छ्वास । यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से यह जीव शुद्ध चैतन्य आदि प्राणों से जीवित रहता है तो भी अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से देखा जाय तो द्रव्यरूप प्राणों से जीवित रहता है और अशुद्ध निश्चयनय से देखा जाय तो भावरूप प्राणों से जीवित रहता है । जो जीवित है इन प्राणों से वह जीव है । जो जीवित था इन प्राणों से वह जीव है, जो जीवित रहेगा इन प्राणों से वह जीव है । तीन प्रकार के काल के नाम से जो प्राण जीवन का वर्णन किया है वह साधारण, बहिरात्मा जीव में तो अच्छी प्रकार घटित होता है, किन्तु जो शुद्ध हो गये हैं उनमें वर्तमान में ये प्राणों से जीवित हैं यह घटित नहीं होता और आगामीकाल में इन प्राणों से जीवित रहेंगे, यह भी घटित नहीं होता । भूत नैगमनय की अपेक्षा यह कहा जायगा कि यह इन प्राणों से जीवित था, इस कारण जीव है । पर निश्चयनय की दृष्टि से तो ज्ञान-दर्शनरूप जो शुद्ध चैतन्य प्राण हैं उनसे यह जीवित रहता है ।

प्राणविवरण—प्राण ४ प्रकार के हैं—इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास । ये चारों के चारों प्राण चित्सामान्य के अनुयायी हैं अथवा चेतना के विवर्त हैं, इस रूप में देखा जाय तो ये ही चार भाव प्राण होते हैं और ये चार पुद्गल से अन्वयी हैं, इस प्रकार निरखा जाय तो ये द्रव्यप्राण होते हैं । जैसे इन्द्रिय प्राण इन्द्रियावरण के क्षयोपशम से जो आत्मा में उस-उस प्रकार का इन्द्रिय द्वारा बोध होता है इन्द्रिय ज्ञान है वह है भाव प्राण । और जो ये दिखती हुई इन्द्रियाँ हैं, ये हैं द्रव्यप्राण । इसी प्रकार मन, वचन, काय के सम्पर्क में भी इस योग्य जो अपना बल है वह है भावप्राण और तन, मन, वचन का जो बल है, पौद्गलिक शक्ति है वह हैं द्रव्यप्राण । ऐसे ही आयु के सम्बंध में जो आयु का उदय है, उदय कर्म का सम्बंध है वह तो है द्रव्यप्राण और आयु का सम्बंध होने से जिस प्रकार का इसका जीवन चल रहा है, उस आयु का निमित्त पाकर जो अन्तर में तद्विषयक भाव चल रहा है वह है भावप्राण । यों ही जो वायुरूप उच्छ्वास है वह है द्रव्यप्राण । और उस वायुरूप उच्छ्वास के निमित्त से जो आत्मा में एक कुछ जीवन से संतुष्टि संतोष आदिक के ढंग से उच्छ्वास सम्बंधित भाव चलता है वह है भावप्राण । इस प्रकार यह जीव इन प्राणों से जीवित रहता है ।

संसारावस्था में विभावप्राण का अविच्छेद—उन दोनों प्राणों में से द्रव्यप्राण अथवा भावप्राण उनमें तीनों कालों में कोई-सा भी समय ऐसा नहीं आया कि जिसमें बीच में धारा छूटी हो, बीच में प्राण न रहे हों और बाद में फिर प्राण आ गये हों । चाहे इन प्राणों के भेद प्रभेद की दृष्टि से कमी-बेशी हो आयी है, लेकिन ऐसा कोई समय नहीं हुआ संसार अवस्था में जिस समय इस जीव में इनमें से कोई प्राण न रहा हो । बाद में प्राण आते हों । अनविच्छिन्न धारा से इन प्राणों को धारण कर रहा है यह जीव । इस प्रकार संसारी जीव के जीवत्व की सिद्धि हुई है । हाँ मुक्त जीव में एक शुद्ध ज्ञान, दर्शनरूप भावप्राणों के धारण से जीवत्व का निश्चय करना है ।

प्राणप्रकरण से शिक्षा—यह जीव प्राणों से जीवित है, ऐसा समझाने से हम को किस कर्त्तव्य की शिक्षा मिली है? इन प्राणों की रक्षा करें, अपना ही मतलब रखें, क्या यह शिक्षा मिली है? इसमें यह शिक्षा बसी हुई है कि ये चारों के चारों द्रव्यप्राण मेरे स्वरूप नहीं हैं । ये पौद्गलिक हैं, इनके सम्बंध से संसार भ्रमण ही रहा करता है । मैं इन प्राणों से भिन्न अपने शुद्ध ज्ञान दर्शनरूप अव्यय प्राणों से युक्त हूँ । मेरा कर्तव्य है कि मैं मन, वचन, काय का निरोध करके पञ्चेन्द्रिय के विषयों से विविक्त होकर शुद्ध चैतन्यभाव प्राणों से युक्त शुद्ध जीवास्तिकाय को दृष्टि में लूं, वह ही उपादेय है । देखिये जहाँ इन प्राणों की रक्षा को उपादेय नहीं कहा है वहाँ धन वैभव के रक्षा की तो कहानी ही कौन करे? केवल एक शुद्ध जीवस्वरूप को दृष्टि में लेकर सोचिये —शरीर का सम्बंध, मन का सम्बंध, इन इन्द्रियों का सम्बंध इस जीव को अनर्थ का ही कारण बन रहा है । जीव का स्वभाव तो समग्र लोक और अलोक की जानकारी कर लेना है, और विशुद्ध निराकुल आनन्द में लीन बने रहना है, किन्तु हो क्या रहा है? यह सब किसकी करामात है? यह सब द्रव्यप्राणों के सम्बंध की करामात है । यदि मैं केवल रहता, शरीर तो परद्रव्य है, बन्धन में आये हैं, यह शरीर भी साथ नहीं रहता, कर्म भी साथ नहीं रहते, मैं अपने सहज स्वरूप में जैसा हूँ वैसा ही केवल होता तो ये संसार के झंझट क्यों लदते? केवल रहने में ही सुख है, आनन्द है, ये द्रव्यप्राण उपादेय नहीं हैं, किन्तु विशुद्ध सहजस्वरूप ही उपादेय है ।

दृष्टि का हितकर विषय—देखिये भैया ! जैन होने का लाभ लूटना है तो कहाँ दृष्टि दे? इसको समझिये । यह तो बड़े खेद की बात होनी चाहिए, पछतावा की बात होनी चाहिए कि थोड़े समय को मैं आया हुआ हूँ, कुछ ही समय बाद यहाँ से विदा होना पड़ेगा, कुछ भी मेरे साथ न रहेगा । लोक में कैसा अविवेक हो रहा है कि इन रूपी पौद्गलिक जड़ पदार्थों में सने जा रहे हैं और थोड़ीसी राग चेष्टा दिखा देने वाले इन स्त्री पुत्रादिक परिजनों में सने चले जा रहे हैं । यह तो बड़े खेद की बात होनी चाहिये थी जो कि मोह में मौज की बात मानी जा रही है । अरे अपने आपको यह निरखो कि मैं इन प्राणों से भी

जुदा हूँ । जिन प्राणों की लोग रक्षा करते हैं वे प्राण भी संचय और रक्षा के योग्य नहीं हैं । जाना हो तो जावो ।

प्राणरक्षण की परिस्थिति—प्राण को रक्षा के योग्य उस स्थिति में बताया है जब कि यह जीव कल्याण की दृष्टि करने लगा है, किन्तु कल्याण के कार्य में पूर्ण निपुणता नहीं प्राप्त हुई है ऐसी स्थिति में बताता गया है कि तुम इन प्राणों की रक्षा बनाये रहो । शरीर संयम का साधन है । अत: कुछ भोजन पान कर लिया करो, यह उस स्थिति की बात है । यदि कोई जीव निपट अज्ञानी है तो प्राण रक्षा से उसको लाभ क्या है? उसका तो जिन्दा रहना और न रहना सब बराबर है । जीवित रहकर भी उसने क्या लाभ लूट लिया? और जो जीव आत्मकल्याण की दृष्टि में अभ्यस्त हो चुके हैं और आत्म समाधि में अभ्यस्त हो गये हैं उन पुरुषों को प्राण रक्षा के विकल्प से क्या लाभ है? प्राण रक्षा की तो ज्ञान के अभ्यासी को जरूरत है । प्राणों की रक्षा की जरूरत होने पर बे जरूरत उसको है जो ज्ञानी हुआ है और ज्ञानबल से संयम साधन में लग रहा है । जैसे सरकार जरूरत की जमीन को एक्वायर कर लेती है, ऐसे ही ज्ञानीपुरुष, सम्यग्दृष्टि पुरुष, ज्ञान में अभ्यस्त पुरुष प्राणों को प्रयोजन के अर्थ एक्वायर कर लेते हैं । उन्हें प्राण रक्षा की जरूरत रहती है । वे अपने कल्याण का उद्योग करने वाले हुआ करते हैं, फिर भी यह ज्ञानी इन द्रव्यप्राणों को उपादेय नहीं मानता । ज्ञानी जीवों का एक शुद्ध आत्मतत्त्व का अवलोकन, आश्रय, आलम्बन ही उनकी दृष्टि में उपादेय बताया गया है ।

जीवत्वस्वभाव की दृष्टि—इस प्रकरण में जो सबसे पहिली गाथा थी, जिससे यह सूचित हो रहा था कि जीव को इन ९ अधिकारों में बताया जायगा । यह जीव के जीवत्व की बात चल रही है । मैं जीव हूँ क्योंकि मैं स्वत: सहजसिद्ध अपनी प्रतिभास शक्ति से जीवित रहा करता हूँ । समस्त द्रव्यों में विलक्षण सारभूत उत्कृष्ट यह जीवतत्त्व है । जीवतत्त्व के सिवाय अन्य समस्त पदार्थ पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल मूर्त हैं, अमूर्त हैं, अनेक चमत्कार इसमें भी हैं, पर एक प्रतिभासशक्ति न होने से ये सब जहाँ के तहाँ धरे हैं । न व्यवस्था अपनी जान पाते हैं, न अपने पराये किसी का कुछ ख्याल है । जीव एक ऐसा विलक्षण पदार्थ है कि वह अनेक पदार्थों की जानकारी करता है, जिसका इतना फैलाव है भावों द्वारा, ज्ञानद्वारा कि लोक में भी क्या अलोक में भी यह फैल जाय ऐसे अपने जीवत्वस्वभाव का आदर करो । मोहममता में कुछ तत्त्व न मिलेगा, जिन्दगी व्यतीत हो जायगी और अन्त में पछतावा रहेगा ।

आकस्मिकतायें—अच्छा कल की ही बात बतावो—जो जो मोह ममता किया था? जिन जिनके पीछे अपने तन, मन, धन, वचन की चेष्टायें की थीं उन सबके फल में कल के शाम तक कुछ नजर आया था क्या? और अब भी कुछ हाथ है क्या? यों ही आज की भी बात समझ लो । जो-जो मोह ममता की जायगी, जिन जिनको मना-मनाकर खुश रखकर अपने को शांत किया जायगा उनसे कुछ मिलेगा क्या आपको? ऐसे-ऐसे कितने दिन खो दिये । मान लो किसी की आज ६० वर्ष की उमर है तो ३६५ का गुणा करके देख लो, लगभग २० हजार दिन गुजर गये, एक दिन की बात नहीं, कौनसा लाभ पाया, कौन सी तृप्ति पायी? बिना प्रयोजन ही जैसा मिला सुन्दर असुन्दर किसी भी प्रकार का जो भी सम्बन्ध मिला, बस ये दो चार जीव तो मेरे प्राण हैं और बाकी सब जीवों में शायद प्राण हों या न हों—ऐसा मतलबी बनकर अपना जीवन गुजार दिया और अन्त में यह हालत कर ली ।

ज्ञान के अभाव में क्लेशजाल—भैया ! ज्ञान न हुआ तो जीवन में बड़ी बुरी हालत रहती है । प्रथम तो यह प्रकृति सहयोग नहीं दे रही है । जब पैदा हुए तब रंगा चंगा शरीर रहा, फिर जवान हुए तो बड़ा बलिष्ट शरीर हो गया । जीवन भर सब कुछ किया, अन्त में दशा कैसी होती है? शरीर की दृष्टि से बुढ़ापा आता है, शिथिलता होती है, खून नहीं बढ़ता, कमजोरी आ जाती है, जहाँ खाट से भी नहीं उठा जाता, ऐसी-ऐसी कठिन हालत हो जाती है । अन्त में भोगा कष्ट, क्लेश, लोग तो ऐसा उद्यम करना चाहते है कि मैं पहिले कष्ट भोग लूँ, बाद की जिन्दगी तो सुख में रहे । इसीलिए तो लोग धन कमाते हैं । पहिले कष्ट

सह लें, कंजूसी करके, यत्र तत्र भ्रमण करके, जैसी चाहे नीति अनीति करके, दूसरों के लाठी मुक्के सहकर, भूखे प्यासे रहकर रात दिन जुट करके धन कमा लें ताकि ब्याज ही ब्याज से आराम से जिन्दगी कटे । लोग तो ऐसा करते हैं कि पहिले कष्ट सह लें, पीछे सुख मिलेगा मगर प्रकृति उल्टा काम कर रही है । तुम सुख खूब भोग लो, पीछे बुढ़ापा के रूप में हम सब सुख की कसर खूब निकाल लेंगे । प्रकृति यह काम कर रही है । कुछ दिखता ही नहीं, अंधेरा है, सब विरुद्ध है, प्रकृति भी विरुद्ध हो रही है, तब कौनसा सुख लूटना, कहा मजे में रहना, क्या ढंग बना? कोई बात ही फिट नहीं बैठती।

ज्ञानभावना की मुक्तता—भैया ! फिट बैठने वाली बात है तो केवल एक ज्ञान है । क्या करना है? खूब ज्ञानभावना बनायें जब तक बल है, जीवन है, सामर्थ्य है तब तक खूब ज्ञानभावना बनाये । अपनी संभाल खूब कर लीजिए । समस्त परपदार्थों से न्यारा केवलज्ञानमात्र यह मैं आत्मा हूँ, इसकी खूब दृढ़ भावना बना लीजिये । फिर डर नहीं बुढ़ापे का । फिर किसी भी चीज का डर नहीं है । नहीं उठा जाता खटिया से तो न उठा जाने दो । हम अपने आप में स्थित उस ज्ञानप्रकाश को निहारते रहें । यह शरीर जैसा वर्तता है वर्तने दो । कोई अशान्ति नही हो सकती । ज्ञानबल जिसने बनाया है उसको जीवन में अशान्ति का काम नहीं है । जो अपना ज्ञानबल नहीं बना पाया वह धनी हो जाय तो भी, अथवा बड़ा नेता हो जाय तो भी, कुछ भी पा ले तो भी शान्ति का कुछ काम नहीं, उसे शान्ति न मिलेगी ।

आत्मसाधना में सफलता—भैया ! अनवरत अविच्छिन्न धारा से इस भेदविज्ञान द्वारा निज आत्मस्वरूप को भान में लो । यह मैं सबसे जुदा केवल भावमात्र हूँ, ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूँ । भले ही यह आज निमित्तनैमित्तिक सम्बंध में बढ़-बढ़कर शरीर में बंधा है, लेकिन शरीर में बँधा रहकर भी यह मैं केवल चिन्मात्र स्वरूप हूँ । शरीर से मेरा कुछ नाता नहीं है । जब मैं शरीर भी नहीं हूँ तो अन्य पदार्थों से मेरा नाता क्या है? मैं सबसे विविक्त एक ज्ञानस्वभावमात्र हूँ इस प्रकार की बारम्बार भावना की जाय तो सब सफलता है । आप सफल हो गये तो देश को सफल कहा जाता है, काल को सफल कहा जाता है, इस पर्याय को सफल कहा जाता है । मात्र पर्याय की सफलता का क्या अर्थ है? उसका तो अहितरूप अर्थ है, हमारी पर्याय सफल हो जाय, मायने इस पर्याय के बाद पर्यायें और मिले । तो उस पर्याय के फल तो पर्यायें-पर्यायें हैं । जीव की अपने आत्मा की सिद्धि है तो इस पर्याय की वास्तविक सफलता है । आत्मदृष्टि नहीं है तो सफलता का नाम मत लीजिए । न वहाँ शान्ति हो सकती, न वहाँ निराकुलता आ सकती ।

सहजस्वभाव के उपादेयत्व की शिक्षा—देखो यहाँ यह दृष्टि करायी गयी है कि ५ इन्द्रिय, ३ बल, आयु और श्वासोच्छ्वास—इन १० प्राणों से मेरा स्वरूप अत्यन्त न्यारा है, ये भी मेरे कुछ नहीं हैं । इनसे विविक्त केवल चैतन्यमात्र मैं हूँ । जब ये प्राण भी, इन्द्रिय भी, शरीर भी, कुछ भी मेरा नहीं है तो अन्य देश, घर, वैभव, परिजन, यश सोचते जावो ये सब भी मेरे नहीं हैं । यदि इन सबसे विविक्त निज अंतस्तत्त्व की दृष्टि नहीं की जा सकती है तो अपने को धर्मी मानने का अभिमान छोड़ दीजिए । धर्म वहाँ ही आयगा जहाँ इस आत्मस्वरूप का भान हुआ । जहाँ आत्मस्वरूप का भान होता है वहाँ सहज वैराग्य प्रकट होता है । इन प्राणों से भी भिन्न केवल ज्ञानदर्शन प्राणों में तन्मय निज आत्मस्वरूप की भावना में ही हमें शान्ति का मार्ग मिल सकता है ।

गाथा ३१-३२

अगुरुलघुगा अणंता तेहिं अणंतेहिं परिणदा सव्वे ।
देसेहिं असंखादा सिय लोगं सव्वमावण्णा ।।३१।।
केचित्तु अणावण्णा मिच्छादंसणकसायजोगजुदा ।
विजुदा य तेहिं बहुगा सिद्धा संसारिणो जीवा ।।३२।।

पदार्थपरिणमन—अगुरुलघु गुण अनन्त होते हैं । उन अनन्त गुणों से परिणमन करनेवाले समस्त पदार्थ हुआ करते हैं । उनमें से यह जीवपदार्थ प्रदेशों की अपेक्षा तो असंख्यातप्रदेशी है, पर कदाचित् समस्त लोक को भी प्राप्त हो जाता है । कोई जीव यों व्यापक है, सर्वलोक में विस्तृत है । केवल लोकपूरण अवस्था में अरहंत देव के आत्मा के प्रदेश सर्वलोक में व्यापक होते हैं । और अनेक संसारी जीव अव्यापक हैं । अनेक जीव मिथ्यात्व, कषाय और योग से युक्त हैं और अनेकों जीव मिथ्यात्व आदिक विभावों से रहित हैं । कोई जीव सिद्ध हैं और कोई संसारी हैं ।

जीवभेदविस्तार—इन दो गाथावों में जीव का भेद विस्तार बताया गया है । पदार्थों में अगुरुलघुत्व गुण हुआ करता है जिसके प्रभाव से ये पदार्थ प्रति समय परिणमते रहते हैं । एक परिणमन के बाद इसका परिणमन होने में वृद्धि-हानि हुआ करती है । किसी-किसी समय तो मोटे परिणमन में वृद्धि-हानि नजर आती है और कहीं नहीं नजर आती है । लेकिन यह निर्णय है कि वृद्धि-हानि हुए बिना दूसरा परिणमन नहीं हो पाता । न हो कुछ भी वृद्धि, न हो कुछ भी हानि तो वह दूसरा परिणमन ही क्या? जो शुद्ध परिणमन भी होते हैं उन शुद्ध परिणमनों की भी यही पद्धति है । वहाँ पर भी वृद्धि हानि होती है । यह वृद्धि हानि विकाररूप नहीं किन्तु यह पदार्थ के स्वभाव में शामिल है । कोई-सा भी काम अपने को व्यवहार में जो दिखता है उसमें भी वृद्धि हानि चल रही है । कोई एक पुरुष आधा मन का बोझ हाथ पर उठाये खड़ा है बिल्कुल स्थिररूप से हिलता डुलता नहीं हैं, हमें नहीं मालूम पड़ रहा है, पर उसके भीतर सूक्ष्मरूप में कितनी हलन-चलन और वृद्धि हानि हो रही है? इसे वही अनुभव कर रहा है ।

शुद्ध परिणमन में भी नूतनत्व—एक दीपक या बल्ब आधा घन्टे तक एक-सी स्पीड में जल रहा है, कहीं बिजली के तार में कुछ खराबी भी नहीं है जिससे वह कभी मंदा और कभी तेज हो जाय । एकसा जल रहा है, इतने पर भी इस बिजली विभाग के जानकार जानते हैं कि प्रति सेकेण्ड अथवा उसके भी कई भाग में जो नई-नई रोशनी हो रही है उस बीच में वृद्धि हानि हो जाती है । किसी-किसी समय तो अपने को भी मालूम पड़ जाता है कि जगमग हुए बिना यह प्रकाश नहीं हो सकता । जगमग मायने वृद्धि हानि । जग मायने वृद्धि, मग मायने हानि । जग गया, उठ गया, मग गया, अन्दर की ओर संकुचित हुआ तो वृद्धि हानि बिना परिणमन नहीं हुआ करता । ऐसी शक्ति प्रकृति प्रत्येक पदार्थ में है । उनसे भी षट्स्थान पतित वृद्धि हानिरूप अविभाग प्रतिच्छेद सिद्धान्त में कहे गये हैं। उन गुणों से ये समस्त अनन्तजीव प्रति समय परिणमते चले जा रहे हैं ।

परिणमनस्वरूप के अवगम से शिक्षा—जिसे हित की धुन हो उसे सब बातों में शिक्षा मिल जाती है । जिसे हित की धुन नहीं है, साक्षात् शिक्षा के वचनों में भी उसे शिक्षा नहीं मिलती । यहाँ यह शिक्षा ग्रहण करते हैं कि जब पदार्थ अपने आपमें पाये गये अगुरुलघुत्व गुण से परिणमते रहते हैं तब किसी भी पदार्थ में मेरा क्या अधिकार है, मेरा क्या कर्तव्य है? अपने आपके स्वरूप को सम्हालकर फिर इस तत्त्व मर्म को निरखिये । यह मैं आत्मा क्या हूँ, कितना हूँ, क्या कर पाता हूं? जरा अन्तर्दृष्टि करके निरखिये । मोह ममता के रंग में आपको कुछ भी लाभ न होगा, सदा सूने के सूने ही रहोगे । वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है । यदि कोई किसी का बन जाता तो आज को यह संसार भी न मिलता, सर्वापहार हो जाता, सर्व शून्यता आ जाती । ये सबके सब अब तक हैं, यह इसी बात का प्रमाण है कि प्रत्येक पदार्थ मात्र अपने स्वरूप का अधिकारी है, कोई किसी दूसरे के स्वरूप का अधिकारी नहीं । ऐसा जानकर हे भव्य पुरुषों ! अपने आप में सन्तुष्ट रहने को प्रकृति बनावो । किसी परपदार्थ में चित्त बसाकर सन्तुष्ट होने का यत्न मत करो, अन्यथा कई गुणा कष्ट पाओगे । अपने आपको सम्हाल लो ।

स्वावलम्बन की सीख—यह जैन शासन स्वावलम्बन सिखाता है, अपने मन को सम्हाल लो । अपने इन विकल्पों पर संयम पा लो, फिर कहीं आकुलता नहीं है । मेरा तो कुछ है नहीं उसे दिल में बसाया है, उसे अपना माना है । अरे क्या पहिले था या आगे रहेगा, और अब भी क्या कोई आपका साथी है ।

व्यर्थ के मोह का रंग इतना तीव्र चढ़ाकर यह जीव दुःखी हो रहा है । यह वस्तुस्वरूप हमें यह सिखा रहा है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है । मैं किसी का कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं, किसी का स्वामी नहीं । किसी अन्य पदार्थ से मेरा रंच भी सम्बंध नहीं है। भले ही चाहे बड़ी शक्ति लगाकर लीनता करें, पर कोई अपना नहीं हो पाता ।

मिथ्यावासना से हानि—भैया ! कंजूस लोग इस वस्तुस्वरूप की दृढ़ता के कारण दुःखी रहा करते हैं । एक तो कंजूसी कर-करके धन जोड़ा, और जब यह देखा जाता कि यह धन उसका रहता नहीं है, पास से छूट रहा है तो कोशिश तो बहुत करता है कि यह मेरा बनकर रह जाय, पर वस्तुस्वरूप का उल्लंघन कौन कर सकता है? मिटता है, बेकार होता है, उसे बड़ा कष्ट भोगना पड़ता है । अरे उस कंजूसी से लाभ क्या मिला? जीवनभर दुःखी रहे और मरते समय तो बुरी हालत करके मरे, छूटा आखिर सब कुछ । रहा यह अकेला का ही अकेला, पर उस मोह के स्वप्न में अनेक नाटक कर डाले गये ।

जीव का परिमाण—प्रत्येक पदार्थ स्वयं परिणमनशील है । आपका किसी भी पदार्थ में कोई दखल नहीं है । ये समस्त जीव अपने-अपने अगुरुलघुत्व गुण के कारण परिणमते चले जा रहे हैं । ये सब जीव कितने परिमाण के हैं? इनमें प्रदेश असंख्यात हैं प्रत्येक जीव में । कदाचित् ये जीव लोक में फैल जाये, व्यापक हो जाये । यह ज्ञानपुञ्ज तो समस्त लोक में व्याप सकता है ।

जीव की व्यापकता का अवसर—जीव की यह व्यापक अवस्था हुआ करती है लोकपूरण समुद्घात में । अरहंत भगवान के जिनके चार घातिया कर्म तो नष्ट हो चुके, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार अघातिया कर्म शेष रहे । तो जब कुछ अन्तिम निकट समय आता है उस समय करीब-करीब यह स्थिति रहा करती है कि आयु कर्म तो थोड़ा रह गया और बाकी तीन कर्म बहुत लम्बी स्थिति के रह गये, आयु अभी नहीं मिटी । यदि सिद्ध होंगे तो यों नहीं होते कि पहिले आयु मिट जाय, जब नाम की गोत्र की स्थिति का नम्बर आयगा मिटने का तो वह मिट जायगा । चारों अघातिया कर्म एक साथ नष्ट होते हैं, उनकी प्रकृतियों में एक समय का तो अन्तर हो जायगा । कुछ प्रकृतियाँ द्विचरमसमय में क्षय होंगी और कुछ कृत्तियां चरमसमय में, पर इतने का क्या अन्तर है? यों ही समझिये कि चारों अघातिया कर्म एक साथ नष्ट होंगे ।

केवलिसमुद्घात की परिस्थिति—अब यह बानक कैसे बने? आयु की तो थोड़ी स्थिति है और बाकी कर्मों की बड़ी स्थिति है तो इस समय स्वभावतः समुद्घात होता है । समुद्घात का अर्थ है—अपने मूल शरीर को न छोड़कर ~~बाहरी~~ आत्मा के प्रदेशों का फैल जाना । अरहंत प्रभु यदि पद्मासन में विराजे हों तो एक घूंटे से लेकर दूसरे घूंटे तक का जितना क्षेत्र है, फैलाव है उतनी ही मोटाई से उनके प्रदेश नीचे जाते हैं और ऊपर फैलते हैं । फिर दूसरे समय में अगल-बगल में फैलने लगते हैं जहाँ तक उन्हें लोक मिलता है, वातवलयों में नहीं और शेष लोकों में फैल जाते हैं । इसके पश्चात् पीठ और पेट की तरफ उनके प्रदेश कहाँ तक फैलते हैं जहाँ तक वातवलय नहीं आता, फिर इसके बाद जो शेष वातवलय रह गये थे उनमें भी ये प्रदेश फैल जाते हैं । अब लोक में कोई प्रदेश ऐसा नहीं बचता जहाँ इस अरहंत आत्मा का प्रदेश न हो । ये सब एक-एक समय की बातें हैं । अब इसके बाद संकोच होना शुरू होता है । तो जैसे-जैसे यह फैला तैसे ही तैसे यह सिकुड़ा और अन्त में अपने शरीर में समा जाता है । इस प्रक्रिया में प्राय: वे तीन कर्म आयुकर्म के बराबर हो जाते हैं । यदि थोड़ी-सी कसर रह गयी है तो इसके बाद ही बराबर हो जाती है । जिसे कहते हैं समुद्घात । इसके बाद अन्त में कर्मों को एक साथ दलकर के मुक्त हो जाते हैं ।

जीवपरिमाण का विविध विस्तार—देखो यह जीव लोकपूरण समुद्घात में लोक भर में फैल गया, बाकी समयों में तो यह जीव देहप्रमाण रहता है । और अन्य समुद्घातों में कुछ फैलकर भी असंख्यात प्रदेशों में ही कहीं फैला हुआ है, पूरे लोक में नहीं फैला । यह तो प्रदेशों की बात है। ज्ञानभाव से तो

लोकालोक में व्यापक है । अपने आपके अन्त:स्वरूप का ज्ञान महाविज्ञान है । इसही को लक्ष्य में लेकर कुछ अनेक दार्शनिकों ने इसका स्वरूप बताना चाहा, पर स्वरूपदृष्टि में न होने से स्वरूप का बताना विभिन्न रूपों में हो गया है और कुछ ऐसा लगने लगा कि दूसरे की कहानी कही जा रही हो, अपने आपके इस स्वरूप का ज्ञान हो, स्याद्वाद पद्धति से स्वरूप का निर्णय हो तो ये सब बातें स्पष्ट अपने आपके ज्ञान में आ जाती हैं । ये सब जीव कोई तो व्यापक हैं, कोई अव्यापक हैं ।

विकार व विकास—इन जीवों में कोई जीव तो मिथ्यात्व से रंगे पंगे हैं और कोई मिथ्यात्व के रंग से मुक्त हो गये हैं । मिथ्यात्व नाम है किसका? मिथ्या शब्द मिथ् धातु से बना है, जिसका अर्थ है दो का मेल । लोग तो मिथ्या का अर्थ ''झूठ'' बताते हैं, पर मिथ्या का अर्थ झूठ नहीं है । मिथ्या मायने दो का मेल । यह मिथ्या शब्द मिथुन या मैथुन शब्द से बनता है। दो के सम्बन्ध को, दो के मेल को मिथ्या कहते हैं । यह मेरा है—इस तरह दो के सम्बन्ध का विकल्प रखना इसका नाम है मिथ्या । चूंकि दो का सम्बन्ध सही नहीं है इसलिए मिथ्या का अर्थ लोगों ने लगा दिया झूठ, और यह ठीक भी है, पर सही अर्थ झूठ नहीं है । मिथ्या का झूठ अर्थ तो फलित है । कितने ही जीव मिथ्यात्व के रंग से रंगे पगे हैं । यह देह मैं हूँ, यह घर मेरा है, यह भैया मेरा है, ये हमारे घर के लोग हैं, इनके लिए तो जान तक न्यौछावर हो जाती है । सब कुछ इनके ही लिए तो है । कितना अज्ञान का अंधेरा छाया है, जीव के स्वरूप का भान ही नहीं हो पा रहा है । यदि स्वरूप का भान होता तो इसकी दृष्टि में वह चैतन्य नजर आता जो सब जीवों में एक समान है । अनन्तानन्त प्राणी इस मिथ्यात्व के मल से मलिन हैं और कोई विरले ही ज्ञानी संत व प्रभु परमात्मा ऐसे हैं जो मिथ्यात्व के रंग से मुक्त हैं ।

भ्रम का महाक्लेश—भैया ! भ्रम का बड़ा क्लेश होता है । एक कहानी है—देहात के १० मित्र जुलाहा किसी गांव के बाजार में कपड़ा बेचने गये । बेचकर लौटे तो रास्ते में नदी पड़ती थी । जाते समय तो बेचने की धुन थी, कोई विकल्प नहीं हुआ । बेच करके आये काम करके आये ना, तो चित्त में वह उत्सुकता नहीं है ना, तो विकल्प चले, नदी से पार होकर जब किनारे पहुंचे तो उनमें से एक ने कहा कि आवो अपन गिन तो लें । दस लोग गये थे, दसों के दसों लोग हैं कि नहीं । तो एक ने गिना, निगाह डाली तो उसको ९ ही लोग नजर आये । कहा कि अरे ९ ही लोग रह गये । एक का पता ही नहीं है । यों ही सभी ने गिना तो सभी को ९ के ९ ही नजर आये, सभी खुद को गिनना भूल गये । सोचा कि अपन में से एक मित्र नदी में बह गया होगा । सभी दुःखी हो गये, रोने लगे, पत्थरों से अपना सिर फोड़ने लगे । अरे भाई कौन मर गया बतावो तो सही? बस मर गया कोई एक मित्र । लो खुद को गिनना सभी भूल गये । भ्रमवश यह हालत हो गयी, सभी के सिर से खून बहने लगा । एक कोई सूझता पुरुष उसी रास्ते से जा रहा था, पूछा- भाई! आप लोगों की क्यों यह हालत हो गयी है? सभी ने सारी कहानी बतायी । बताया कि हम लोग १० मित्र कपड़ा बेचने गये थे । अब हम ९ मित्र ही रह गये हैं । एक हमारा मित्र नदी में डूबकर शायद मर गया है । तो उसने सरसरी निगाह से देख लिया कि दसों के दसों तो हैं । पूछा—भाई कौन नहीं है? सभी ने खुद को छोड़कर ९ लोगों को गिनकर बताया । उस सूझते पुरुष ने बताया कि हम तुम्हारे १०वें मित्र को बता देंगे । तो उन्होंने समझा कि इसने कहीं देखा होगा तो हमें हमारे मित्र को बता देगा । सभी बड़े खुश हुए और कहा बतावो । उसने क्या किया कि सभी को एक लाइन में खड़ा किया, एक हाथ में एक डंडा लिया और एक तरफ से एक-एक डंडा धीरे-धीरे मार कर बताता जाय—देखो एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात, आठ, नौ और १०वें को जरा जोर से मारे ताकि ध्यान रहे, कहा १०वें तुम हो, यों ही सभी की अंत में जोर से मारकर बतावे कि १०वें तुम ही हो । तो भाई जब भ्रम था तब उन्हें कितना कष्ट या कितनी विह्वलता थी, कितना अंधेरा था? जब भ्रम मिट गया तो यद्यपि सिर से खून अभी भी बह रहा, बंद नहीं हुआ, फिर भी वे आकुलित नहीं हैं। भ्रम में बहुत बड़ी आकुलता होती है ।

संसरण का मूल भ्रम—भ्रमवश ही लोग इस संसार में भटक रहे हैं । मेरा यह गया, मेरा वह गया, मेरा यह मिटा, मेरा वह मिटा । अरे इसमें किसी को मिटने का क्लेश नहीं है । क्लेश तो इस बात का है जो परपदार्थ को मान लिया है कि यह मेरा है, इस कारण जब तक भ्रम है तब तक यह दुःखी रहेगा । सभी जीव मिथ्यात्व के रंग में पगे हुए हैं, वे इस देह को ही अपना सर्वस्व समझते हैं । कुछ ही विरले जीव मिथ्यात्व से छूटे हुए हैं ।

कषाय और योग का प्रभाव—अनेक जीव कषाय से युक्त हैं, और कुछ विरले जीव कषाय से रहित हैं । जिन जीवों के मिथ्यात्व पाया जाता है उनके कषाय तो अवश्य होती है और जिन जीवों के कषायें पायी जाती हैं प्राय: उनके मिथ्यात्व होता है, पर नियम नहीं है, कषाय हो उसके साथ मिथ्यात्व हो भी सकता, नहीं भी हो सकता है, इससे समझिये कषाय का रंग मिथ्यात्व से हल्का है । ज्ञानी सम्यग्दृष्टि साधुसंत पुरुषों के भी परिस्थितिवश कषाय जगती है, पर मिथ्यात्व नहीं है, अनेक जीव कषाय से युक्त हैं और विरले जीव कषाय से रहित हैं । कर्म आस्रश्रय का कारण है योग । प्रदेशों का सकम्प हो जाना, हलन-चलन होना योग है । अनन्त जीव योग से सहित हैं और विरले जीव योग से रहित हैं ।

जीवविस्तारविवरण से शिक्षा—यों इन सब जीवों में एक प्रकरणवश इतने भेद कर लिये हैं । उनमें अनन्त तो सिद्ध जीव हैं और सिद्ध जीवों से अनन्तगुणे संसारी जीव हैं । यों समस्त जीव सिद्ध और संसारी इन दो भागों में विभक्त हैं । हम इस कथन से यह शिक्षा लें कि सर्व प्रकार की आशा का त्याग करके यहाँ तक कि जीने की भी आशा न बनाये, और अन्तरङ्ग में यह देखें कि शुद्ध जीवों के सदृश परमानन्दस्वाद से तृप्त अथवा आनन्दमय यह शुद्ध जीवास्तिकाय ही दृष्टि में लेने योग्य है ।

गाथा ३३

जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं ।
तह देही देहत्थो सदेहमित्तं पभासयदि ।।३३।।

दृष्टान्तपूर्वक जीव की देहप्रमाणता का कथन—जैसे दूध में पद्मरागरत्न डाल दिया जाय तो वह समस्त दूध को अपने रंग रूप से प्रकाशित करता है, इसी प्रकार यह जीव देह में स्थित होकर अपनी देहमात्र को प्रभासित करता है । इस गाथा में जीव की देहप्रमाणता का वर्णन किया है । जैसे दूध में पद्मराग रत्न डाल दिया जाय तो जैसा उसका रूप है वही रूप समस्त दूध में फैल जाता है, इसी प्रकार यह जीव अनादिकाल से कषायों की मलिनता के कारण शरीर में रहता चला आया है । जब जिस शरीर में रहा तब अपने प्रदेश से उस शरीर में व्याप करके रहा।

एक देह में जीवप्रदेशों का संकोच विस्तार—जैसे उस ही दूध में पद्मराग पड़ा है और उसे गर्म करके चूल्हे पर रख दिया तो अग्नि के संयोग से वह दूध उबलने लगता है । मानो सेर भर पानी है तो वह डेढ़-दो सेर दूध जितनी जगह घेर लेता है । उस उफान में भी उस रत्न का रंग रहता है और जब अग्नि के कम हो जाने से उस दूध का उफान शान्त हो जाता है तो वह रंग भी संकुचित हो जाता है । इस ही प्रकार इस शरीर में विशेष आहार देने आदि के कारण जब यह शरीर बढ़ता है तो जीव के प्रदेश भी फैल जाते हैं, और जब यह शरीर बुढ़ापे आदिक के कारण या आहार देने का सुयोग न होने के कारण दुर्बल होता है, घटता है तो ये जीव के प्रदेश भी संकुचित हो जाते हैं।

देहान्तर में जीवप्रदेशों का संकोच विस्तार—जैसे वही पद्मराग रत्न एक बर्तन में से निकालकर किसी बड़े दूध वाले बर्तन में डाल दिया तो जो रंग पहिले थोड़े दूध वाले बर्तन में चमक रहा था वह बड़े बर्तन में फैलकर चमकने लगा । ऐसे ही यह जीव किसी छोटे शरीर को छोड़कर किसी महान शरीर में पहुंच जाता है तो अपने प्रदेशों के विस्तार से उस महान शरीर को व्याप लेता है । वही पद्मराग रत्न पहिले दूध वाले बड़े बर्तन से निकालकर छोटे बर्तन में थोड़े दूध में डाल दिया जाता है तो वह रंग प्रकाश संकुचित होकर

उतने में ही फैलता है । ऐसे ही यह जीव बड़े शरीर से निकलकर छोटे शरीर में आया तो अपने प्रदेशों का संकोच करके अपने पाये हुए अणु शरीर में ही व्यापकर रह जाता है ।

जीव के आकार की सापेक्षता—इस जीव का आकार, चूंकि यह जीव भावात्मक पदार्थ है, इस कारण इसका स्वयं का स्वयं के कारण कोई आकार नहीं हो सका । जीव में आकार की प्रमुखता नहीं है, भावों की प्रमुखता है । कोई जीव के आकार का विचार बनाकर जीव के फैलाव को दृष्टि में लेकर क्या आत्मानुभव कर सकेगा? मैं जीव इतना बड़ा हूँ, पैरों से लेकर सिर तक इतने लम्बे चौड़े मोटे विस्तार वाला हूँ, इस ही को नजर में रखिये और जीव के आकार को निरखकर आत्मानुभव किया जाय तो आत्मानुभव नहीं होता । मैं जाननमात्र हूँ, इस ज्ञानस्वभाव को दृष्टि में लिया जाय, यही एकमात्र उपयोग में रहे वहाँ आत्मानुभव हो जायगा । इसीलिए बताया है—ज्ञानं एवं आत्मा । जो ज्ञान है वही आत्मा है । इस जीव का आकार अनादिकाल से शरीर की अपेक्षा रहा आया है । जितने शरीर में यह जीव रहा उतने शरीर प्रमाण में यह जीव फैलता रहा, सिकुड़ता रहा । संसार अवस्था में यह जीव सदा देहप्रमाण रहा और मुक्त अवस्था में भी इस जीव के अपने ही सत्त्व के कारण कोई आकार नहीं बना, किन्तु जिस देह से यह मुक्त हुआ है, जिस शरीर को छोड़कर यह सिद्ध भगवान बना है उस शरीर के परिमाण (बराबर) सिद्ध के आत्मा का परिमाण हुआ है ।

आत्मानुभव में स्वभावदृष्टि का वियोग—जीव का स्वरूप बताने के प्रसंग में आकार बताया जा रहा है, किन्तु आत्मानुभव के लिए यह विषय मुख्य न बनेगा । जानकारी होना हर प्रकार जरूरी है । अपने आपके सम्बंध में अपनी सब जानकारी होनी ही चाहिए । सर्व प्रकार की जानकारी रखकर फिर यह अपने को ज्ञानमात्र अनुभव कर लेगा । कोई कहे कि इस जीव के बारे में और बातों की विचार करने की क्या जरूरत है? जीव कर्ता है भोक्ता है अथवा नहीं है, देह बराबर है, इतने प्रदेश हैं, इन सब बातों के समझने की क्या आवश्यकता है? आत्मानुभूति के लिये तो एक अपने को ज्ञानमात्र अनुभव कर लिया जाय, किन्तु बात ऐसी होनी नितान्त कठिन है । हम जीव के सम्बंध में जब बहुमुखी परिचय पायें तो हममें वह पात्रता जगेगी कि हम अपने को तब ज्ञानमात्र भावना में लेकर अनुभव कर सकें ।

देहों की संतति—इम जीव ने मिथ्यात्व रागादिक विकल्पों को कर-करके जो कर्म उपार्जित किया है, जिसमें शरीर नामक कर्म भी है, उसके उदय से जब जो शरीर मिला है उसके अनुकूल इसका विस्तार और उपसंहार होता है । यह जीव बड़ी से बड़ी देह की अवगाहना पाये तो एक हजार योजन लम्बा, ५०० योजन चौड़ा और २५० योजन मोटा महामत्स्य का शरीर पा लेता है और छोटे से छोटा शरीर पाये तो घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण छोटा शरीर पा लेता है । घनांगुल का अर्थ है एक अंगुल लम्बा, एक अंगुल चौड़ा और एक अंगुल मोटा, उसका असंख्यातवां भाग, अब सोच लो कितना छोटा होता होगा? इतना छोटा शरीर पा लेता है । इस जीव ने क्षेत्र परिवर्तन में इस अणु शरीर से एक-एक प्रदेश बढ़-बढ़कर क्रम से भी महामत्स्य की अवगाहना प्रमाण शरीर प्राप्त किया । इसमें यह तो नियम नहीं है ना कि जो शरीर पाया है उससे एक प्रदेश और बढ़कर फिर शरीर तुरन्त मिले । कैसा ही शरीर मिले ? जब उससे एक प्रदेश बढ़कर कोई शरीर मिला तो उसे परिवर्तन में शामिल कर लिया। इतने शरीर इस जीव ने धारण किये और जब-जब जिस शरीर को पाया तब-तब उस शरीर को ही आत्मसर्वस्व माना ।

देह की घनिष्टता—हम आपको जो भी शरीर प्राप्त है उससे भी सुन्दर मजबूत पुष्ट, रंगा चंगा और का शरीर दिख जाय तो उसमें आत्मीयता नहीं जगती, यह मैं हूँ ऐसी प्रतीति उसमें नहीं बनती और खुद का अधिष्ठित यह शरीर चाहे दुर्बल हो, काला हो, कुरूप हो उसमें आत्मीयता रहती है । किसी बुड्ढे से कहो कि तुम वृद्ध हो गये, तुम्हारे गाल बैठ गये, दाँत टूट गये, अब तुम कुरूप हो गये, तुम इससे मोह न करो । देखो यह अमुक का लड़का है, यह कितना सुन्दर है, इससे मोह ममता कर लो तो उससे वह मोह ममता नहीं करता । वह तो अपने ही शरीर से मोह ममता करता है । उसे तो जैसा भी अपना शरीर

मिला, वही रुचेगा । उसे ही अपना सर्वस्व मानेगा । यह सब क्यों हुआ? इस जीव के अज्ञान बसा हुआ है । इसे अपने ज्ञानस्वरूप की सुध नहीं है । अरे मैं जिस स्वरूप से रचा गया हूँ वह ज्ञानमात्र है । कितना पवित्र स्वरूप है, उसमें गंदगी का कहीं नाम नहीं है, न इसमें द्रव्यात्मक गंदगी है और न भावात्मक । अपने स्वरूप को निहारो, इस स्वरूप में अशुचिता का कहीं काम ही नहीं है ।

शुचिदर्शन बिना अशुचिभावना से असन्तोष—हम आप अशुचि भावना भाया करते हैं, शरीर-शरीर पर ही दृष्टि रखकर भावना भाते हैं—हड्डी मल मूत्र पीप आदि इसमें सभी गंदे पदार्थ हैं । ''दिपै चाम चादर मढ़ी हाड़ पीजड़ा देह । भीतर या सब जगत में और नहीं घिन गेह ।।'' इस देह के बराबर घिनावना पदार्थ और कुछ नहीं है । मोह दशा में इस जीव को घिनावनी जगह में राग होता है । क्या यह बता सकते हो कि इस शरीर में सबसे अधिक घिनावने पदार्थ किस जगह हैं? सबसे अधिक घिनावने पदार्थ चेहरे में मिलेंगे, मुंह पर मिलेंगे । लार, थूक, कफ, नाक, आंख का कीचड़ कनेऊ ये सब गंदे पदार्थ इस चेहरे में ही हैं । लोक में व्यवहार इस चेहरे को देखकर ही बनता है, लोगों का आकर्षण चेहरे को देखकर ही होता है और इस चेहरे में अधिकाधिक मल भरे हुए हैं । यह सब वर्णन कर लेते हैं कि यह शरीर घिनावना है पर इतने से सन्तोष नहीं हो सकता । यह क्षणिक भावुकता है । थोड़ी देर को इस शरीर का घिनावनापन नजर में आया और थोड़ी ही देर बाद इस शरीर से बढ़कर है भी क्या दुनिया में, ऐसी वासना बना ली । कुछ विचारों का स्थायित्व नहीं रहता, शरीर को अपवित्र तो देखा पर यहाँ पवित्र भी कुछ है कि नहीं, इसे न देखा । अपने आत्मा का स्वरूप निरखो, यह शुचि है, पवित्र है, उत्कृष्ट है । जो अपने इस पवित्र स्वरूप को नहीं निहार पाता है, इसकी ओर विचार भी जो नहीं करता वह यह शरीर अपवित्र है, ऐसा गाता रहता है, वह संतोष नहीं पाता ।

शुचि तत्त्व की भावना—भैया ! शरीर तो अपवित्र है, मगर उसमें कुछ पवित्र भी है कि नहीं? यदि नहीं है पवित्र तो और भी उल्झन में डाल दिया । जो कुछ भी यहाँ दिख रहा है वह सब अपवित्र ही अपवित्र दिख रहा है । कहीं लोग बड़ी भीड़ में थोड़ी देर बैठ जायें, सभी लोग पसीने से लथपथ हो जायें तो इस शरीर की गर्मी से बदबू नजर आने लगेगी । तो जो अपवित्र ही अपवित्र निरख रहा है सब कुछ, कुछ पवित्र भी है इस शरीर में, इसको पहिचानता भी नहीं है तो वह तो और भी घबड़ा जायगा, इन विचारो ने और दुःखी कर डाला उसे । अरे शरीर की अपवित्रता जानना तो ठीक है, मगर अपने स्वरूप की पवित्रता का परिचय न हो तो संतोष कहाँ करेगा यह जीव? इस जीव का स्वरूप, इस जीव का स्वाभाविक विकास, उस विकास का सामर्थ्य तो इतना है कि तीन लोक तीन काल की समस्त द्रव्य गुणपर्यायें एक समय में ही प्रतिभास में ले लेता है, किन्तु ऐसी समर्थ विशुद्ध शक्ति का श्रद्धान न होने से, चैतन्य चमत्कार मात्र शुद्ध जीवास्तिकाय का भान न होने से मिथ्यात्व कषाय रागद्वेष इन रूप परिणम रहा और इन परिणामों से जो जैसे कर्म उपार्जित किया उसके अनुसार शरीर, शरीर पर शरीर रचते चले जा रहे हैं ।

जीव और देह के विज्ञान से शिक्षण—अब इस प्रकरण में जीव देहप्रमाण मानकर जानकर क्या शिक्षा लें? यहाँ इतने संकोच विस्तार हो रहे हैं, कितनी पराधीनता है इस जीव की? मनुष्य कभी मरकर पेड़ बन जाय तो कैसी-कैसी शरण रहनी, पत्ते, फूल, फल आदिरूप में यह पसर जायगा । यह अमूर्त जीव ज्ञानदर्शन स्वभाव वाला जीव और कैसा-कैसा इसे पसरना पड़ा, यह आकृति की कितनी पराधीनता है? यद्यपि आकार जीव का कुछ भी रहे उससे जीव को बाधा नहीं है । जीव को बाधा तो दुःखरूप परिणाम हो तब होती है, लेकिन जीव जिनके अंग उपाङ्ग नहीं हैं या ऐसे विचित्र अंगोपांग हैं, वे उन शरीरों में रहते फिरते हैं, उनके मोह ममता तो है ही सो दुःख ही चल रहा है । क्लेश जीव के प्रदेशों के फैलने सिकुड़ने से नहीं है, क्लेश तो अपने विकारों से है, कल्पनावों से है । ऐसा उद्यम करना अपना कर्तव्य है कि इन

शरीरों का प्राप्त होना ही समाप्त हो जाय, समाप्त नाम है भली प्रकार पूर्ण पा चुकना । बस पा चुके, अब पाने का काम नहीं रहा । जहाँ पाने का काम नहीं रहा, उसे कहते हैं समाप्त । ऐसा उद्यम करो कि जिससे शरीरों का मिलना ही समाप्त हो जाय । उसका उपाय है शरीररहित चैतन्यचमत्कार मात्र निज अन्तस्तत्त्व का श्रद्धान बनायें, उपयोग बनायें और ऐसे ही ज्ञान में अपने को रमा दें तो यही सर्व संकटों के विनाश का उपाय है ।

स्वतत्त्व और परतत्त्व के प्रयोग में लाभालाभ—भैया ! अन्य-अन्य पदार्थों को उपयोग में लेने से कोई लाभ न मिलेगा, क्योंकि वे सब बाह्यपदार्थ हैं, उनको दृष्टि में लेने से इस जीव को निर्विकल्प स्थिति न प्राप्त होगी । निर्विकल्प ज्ञान होने से ही, प्रतिभासमात्र लेने से ही निर्विकल्पता जगेगी । यह मोह ममता कुटुम्ब धन वैभव जिनको पाकर हर्षमग्न हो रहे हैं, ये सब समागम इस जीव के विकार के, विपत्ति के कारण हैं । अतएव अहित करने वाले हैं । इन समागमों से जीव को कुछ भी लाभ नहीं है । अपने को लाभ तो अपने को शुद्ध सहज अपने आपमें जो स्वरूप है उतना मात्र अपने को श्रद्धान करने से ही मिलेगा । जिनसे मैं न्यारा हूँ उन तक का भी विकल्प न रक्खें । मैं सबसे न्यारा हूं—यह तो ज्ञान के कदम में पहिला कदम है और मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसा उपयोग जगना यह उसके बाद का कदम है । ज्ञानानुभूति के लिए जिनसे मैं न्यारा हूँ उनका भी नाम मत लें, उन्हें ध्यान में मत लें । मैं न्यारा हूँ यह भी सुध न लें किन्तु मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, ऐसी सुध लें, ऐसा ही उपयोग बनावें तो इस स्वरूप की दृष्टि से अपने को ज्ञान की अनुभूति होगी । देहप्रमाण जानकर यह ध्यान में लावें कि मैं ज्ञानमात्र हूँ । अभी तक भ्रमवश, नाना देह पाये, इन देहों से छूटकारा पाने में ही हमारा कल्याण है । अब मैं अपने स्वरूप को संभालूँ और देहों से छुटकारा पाने का यत्न करूँ ।

गाथा ३४

सव्वत्थ अत्थि जीवो ण य एक्को एक्ककाय एकट्ठो ।
अज्झवसाणविसिट्ठो चिट्ठदि मलिणो मल रजेहिं ।।३४।।

जीव की प्रवर्तमानता—पूर्व और अपर भव के शरीरों में वही-वही एक जीव है । यह नहीं है कि जब-जब नवीन शरीर मिला तो उस शरीर के ही साधनों से उसमें नया जीव उत्पन्न हुआ । जीव वही है, वह नवीन-नवीन शरीर वर्गणावों को प्राप्त होता है, तिस पर भी शरीर के साथ जीव की तन्मयता नहीं है और एक नय से देखा जाय व्यवहार दृष्टि से तो इस देह के साथ जीव की एकता भी है । नय दो प्रकार के होते हैं—निश्चयनय और व्यवहारनय । केवल एक को निरखने वाला निश्चयनय होता है और एक को न निरखकर अनेक को निरखने वाला व्यवहारनय होता है । व्यवहारनय में बन्धन सम्पर्क ये सब सम्बन्ध विदित होते हैं । निश्चय में चूंकि यह नय केवल एक को ही निरखता है इस कारण यह सम्बन्ध नहीं बन सकता । इस प्रकरण में एक अकेला भी देखते जावो और बन्धन भी निरखते जाओ ।

जीव और देह की एकता और अनेकता—क्षीर और नीर की तरह यह जीव और देह व्यवहारदृष्टि से देखा जाय तो एकार्थ हैं, अभिन्न हैं । जैसे जो स्तनों से दूध निकलता है उसही दूध में दूध भी है और पानी भी है । दूध निकालने के बाद पानी मिलाया जाय उसकी बात नहीं कह रहे हैं किन्तु जो दूध निकलता है उस दूध में दूध भी है और पानी का अंश भी है, दोनों मिले हुए हैं अथवा दूध निकलने के बाद पानी डाल दिया तो वे दूध और पानी एकमेक हो जाते हैं व्यवहारदृष्टि में । वहाँ यह नहीं है कि एक गिलास में ऐसा दूध हो तो नीचे दूध-दूध हो और ऊपर के आधे गिलास में पानी हो या नीचे पानी हो और ऊपर के अर्द्ध भाग में दूध हो ऐसा तो नहीं है । वह जैसे एकमेक मिला हुआ है इस ही प्रकार यह जीव और यह देह भी एकमेक इस सम्बन्ध में है ।

जीव की व्यापकता—यह जीव पूरे देह में है, इस देह के किसी हिस्से में ही नहीं है, समस्त देह में जीव है और एक जीव की अनादि से अनन्तकाल तक अथवा जब तक देह है, तब तक जितने भी देह

मिले हैं सबमें यह जीव व्यापक रहा । अथवा एकेन्द्रिय जीव से तो यह समस्त लोक खचाखच भरा हुआ है । यह जगह जहाँ हम पोल समझते हैं, इस जगह में कुछ नजर नहीं आ रहा है, पर उस जगह में एकेन्द्रिय जीव ठसाठस भरे पड़े हुए हैं । जो जीव सर्वत्र भरे पड़े हैं उनका नाम निगोद है । ये निगोद वनस्पतिकाय के जीव हैं, ये अत्यन्त सूक्ष्म हैं । कोई तो साधार होते हैं और कोई निराधार होते हैं । जो हरी वनस्पति के सहारे हैं निगोद वे तो साधार हैं और ये जो प्रत्येक वनस्पति के बिना सर्वत्र फैले हुए हैं ये निराधार हैं । निराधार का अर्थ यह है कि वे किसी दूसरे जीव के शरीर के आधार पर नहीं हैं । उन निगोद जीवों का कोई एक शरीर है जिस शरीर के आधार निगोद ही निगोद हैं । वहाँ प्रत्येक वनस्पति नहीं हैं । यों एकेन्द्रिय जीव से भरा हुआ यह समग्र लोक है ।

जीवसमूह की एकरूपता व नानारूपता—वह जीवसमूह यद्यपि केवलज्ञानादिक गुणों की दृष्टि से एकरूप है तो भी वे नानारूप हो गये हैं शरीर भेद से । जैसे नाना रंग वाले कपड़े में रखा हुआ स्वर्ण-स्वर्ण तो वह एक ही प्रकार का है, पर भिन्न-भिन्न रंग के वस्त्र में पड़ा है, ऐसे ही यह जीव अपने आपमें तो एक ही प्रकार का है । हम हैं, आप हैं, सबमें स्वरूपदृष्टि से एकरूपता है इस जीव में, किन्तु देह के सम्पर्क से इसमें यह नानारूपता बन रही है, और अज्ञान साथ छाया है सो इसे अपना कुछ नहीं दिखता । यह मायारूप इन्द्रजाल ही सब कुछ नजर में आता है । यह जीव एक देह को छोड़कर नवीन देह में क्यों उत्पन्न होता है? इसमें रागद्वेष मोह लगा है, शरीर के अपनायत की बुद्धि इसमें पड़ी है । उन रागद्वेष भावों से मलिन होकर कर्मरज से यह ऐसी चेष्टा करता है कि एक देह को छोड़कर नवीन देह को ग्रहण करता है । यह आत्मा संसार अवस्था में क्रम से होने वाले अन्तर के जो नाना शरीर मिलते रहे हैं उनमें जो ही एक शरीर में रह रहा है वही जीव क्रम से अन्य शरीर में चलता है ।

शाश्वतता का स्मरण—हम आपकी सत्ता अनादि से है, कुछ इस भव में आकर अब से हम आपकी सत्ता नहीं हुई है, हम अनादि से हैं और इस देह को त्यागकर भी हम आगे रहेंगे । हमारा सत्त्व शाश्वत है, पहिले भी था, आगे भी रहेगा । अब यह देखो कि इस पहिले के समस्त काल के सामने और भविष्य के समस्त काल के सामने यह ५०, ६०, ७० वर्ष का जीवन कितना अनुपात रखता है? एक बड़े लाखों करोड़ों अरबों योजन वाले समुद्र में एक बूंद जितने अनुपात में आता है उतने अनुपात में भी यह हम आपका १००-५० वर्ष का जीवन नहीं है । समुद्र में एक बूँद का तो कुछ हिसाब हो गया, पर इस अनन्तकाल के सामने १०० वर्ष के जीवन का कुछ भी हिसाब नही है । कहीं लेख में ही नहीं आता । इतने थोड़े काल में पाये हुए इन सब समागमों में इतने काल तो हम माया में मुग्ध न हों ।

निर्मोहता का साहस—भैया ! ऐसा साहस बनायें कि जब इस व्यतीत हुए अनंतकाल में अनेक समागम पाये, वे भी नहीं रहे तो वर्तमान में जो भी समागम मिले हैं उनमें मुग्ध न हों, क्योंकि ये समागम भी शीघ्र ही बिछुड़ जायेंगे । जो भी पहिले पाये हुए समागम हम आपने छोड़े वे चाहे अपने आप छूट गये हों, चाहे जबरदस्ती छोड़ने पड़े हों, पर वे छूटे कि नहीं? तो जब हमने अनन्त भवों के बड़े-बड़े वैभव समागमों का भी ख्याल छोड़ दिया तो कुछ गिनती में भी न आ सकने वाले इस ५०, ६०, ७० वर्ष के जीवन में हम परपदार्थों का मोह न करें तो हम अपूर्व आत्मीय चमत्कार प्राप्त कर सकते हैं । चमत्कार क्या? निराकुलता, शान्ति ।

धर्मध्यान की पद्धतियां—धर्मध्यान ४ प्रकार के बताये गये हैं, आज्ञाविचय—भगवान की आज्ञा मानकर धर्मसेवन करें । भगवान के वचन हम पाल रहे हैं, मंदिर आ रहे हैं, शास्त्र सुन रहे हैं, व्रत पाल रहे हैं, भगवान का वचन है । भगवान के वचन झूठ नहीं होते, ऐसी आज्ञा मानकर धर्मपालन में लगना, यह भी एक धर्मध्यान का तरीका है । कुछ गहरा चिन्तन करना, मेरा स्वरूप क्या है, ये रागादिक भाव बैरी बनकर, मुझमें ही स्थित होकर मुझे ही बरबाद कर रहे हैं, इनका विनाश हो । रागद्वेष के विनाश में ही अपना कल्याण है, आदिक चिन्तन करना, यह भी धर्मध्यान की पद्धति है, और कर्मों का फल विचारना—

ये सब जीव स्वत: तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं, पर कर्म सम्पर्क में क्या-क्या स्थिति बन रही है जीव पर? कैसे-कैसे फल बड़े-बड़े पुरुषों को भी भोगने पड़े हैं, ये कर्म बड़े दुर्निवार हैं आदिक कुछ भी चिन्तन करना, यह भी एक पद्धति है, और स्पष्ट उत्कृष्ट एक पद्धति है जिसका नाम है संस्थानविचय । तीन लोक और तीन काल की बातें परोक्षरूप से जानना, हम समझते हैं कि इसे अपने उपयोग में लिए रहें, यह धर्मध्यान की उत्कृष्ट पद्धति है । इसमें क्या प्रभाव है? जब हमारी दृष्टि में तीन लोक की रचना बनी रहे, अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक, इनका विस्तार कैसे-कैसे जीवसमूह और काल की बात समाई रहे, कितना काल बीता, कितना काल बीतेगा, वर्तमान में कितना काल है, यह काल और लोकं की बात सामने रहे तो उसको व्यसन, पाप, दुर्भावना, कुवासना को अवसर नहीं मिल सकता । यह एक बड़ी विशिष्ट पद्धति है । और इस पद्धति का पूर्ण अधिकार साधुजनों को बताया है ।

बहिरात्मा का मुख्य कार्यक्रम—यह जीव यद्यपि शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से केवलज्ञान, केवलदर्शन स्वभाव वाला है तो भी अनादिकाल से कर्मबन्धन के वश से मिथ्यात्व रागादिक विभावरूप परिणमन के कारण द्रव्य कर्ममलों से वेष्टित होकर इनका काम केवल एक रह गया बस, एक शरीर छोड़ना दूसरा शरीर पाना । इस संसारी जीव का मुख्य प्रोग्राम क्या है, मुख्य कार्यक्रम क्या है इसको खूब निरख लें । सर्वत्र देख लो, संसारी जीव का यही एक धंधा लगा हुआ है, जन्म लिया, थोड़ा-सा जिन्दा रहे, कुछ भी गिनती नहीं कि वह कितना सा समय है? जन्म लिया और मर गये । देखिये जैसे कोई लम्बा-चौड़ा है, मान लो ताड़ का पेड़ है, उस पेड़ के ऊपर कोई फल लगा है, वहाँ से फल टूटे और जमीन पर आये तो यह बतलावो कि बीच में कितना सा समय लगेगा? बिल्कुल थोड़ा-सा समय लगेगा । यों ही जन्म को तो समझ लीजिए । अपनी जगह से टूटने की स्थिति के निकटपूर्व की दशा और मरण को समझ लीजिए उस जगह पर गिरने की स्थिति । तो इस जन्म और मरण के बीच में कितना सा समय लगेगा? बिल्कुल थोड़ा-सा । तो इस संसारी जीव का मुख्य प्रोग्राम एक ही है—जन्म लेना और मरण करना ।

धर्म के लगाव का अनुरोध—भैया ! जरा दृष्टि तो दो अपने स्वरूप की ओर । अरे हमें फुरसत नहीं है, बहुत बड़ा काम लगा है । क्या काम लगा है? मरना और जन्मना । फुरसत नही है, और यहाँ भी देख लो कोई धैर्य नहीं रखता, कोई हित के लिए अवसर नहीं देता । बीमार हो जायेंगे तो दो महीना खाट पर पड़े रहेंगे, पर यह न होगा कि जितने समय हम हट्टे-कट्टे हैं, चलते-फिरते हैं, चलो उतना ही हिसाब लगा लें कि साल भर में दो महीना बीमार हुए तो, दो महीने के लगभग १४४० घंटे हुए, इतने घंटे बैठे रहे तो इतने ही घंटे सालभर में धर्म करने के लिए निकाल लें, ऐसा नहीं हो पाता । इकट्ठा दो महीने खाट पर पड़े रहने में ही भला लगता है। कुछ घटना घट जाय महीनों बेकार पड़े रहेंगे, फिर फुरसत रहती कि नहीं? और मृत्यु हो जाय तब तो फिर फुरसत ही फुरसत है । जितने समय तक हट्टे-कट्टे हैं, बुद्धि चलती है, कुछ ज्ञानदृष्टि कर सकते हैं उतने समय तक तो कुछ धर्म में समय लगावें । चौबीसों घंटे कोई कमाई भी तो नहीं करता है, किन्तु मन की ऐसी स्वच्छन्दता है कि मन को गप्पों में लगाते रहेंगे, फिजूल के कामों में मन को लगाते रहेंगे, पर ज्ञान के काम में, धर्म के काम में चित्त नहीं लगा सकते ।

देहविविक्तता—यह जीव अनेक देहों में बसकर भी अपने आपके स्वरूप में ही बसा करता है, देह में नहीं बस रहा है, इस बात को समझने के लिए आपका अनुभव प्रमाण होगा । आप अपनी दृष्टि को इस देह की ओर न लगाकर, अपने ख्याल में इस देह को न रखकर केवल एक ज्ञानप्रकाश मात्र मैं हूँ, ऐसी दृष्टि बनाकर रह जायें तो अपना यह अनुभव चल जायगा कि मैं देह से अत्यन्त पृथक् हूँ, अत्यन्त निर्मल हूँ इस देह से विविक्त निजस्वरूपमात्र अंतस्तत्त्व को दृष्टि में लेने से इन शरीरों के मिलने की जो परम्परा चल रही है वह भी समाप्त हो जायगी ।

प्रमाद का परिणाम—हम आपने आज मनुष्य शरीर पाया है । इस मनुष्य शरीर को पाकर हम आप घमंड बगराते हैं । अरे मगरमच्छ इत्यादि के शरीरों को तो देखो—और आप लोगों ने प्राय: मगर देखा ही

होगा । कितना थूलमथूला अटपटा शरीर इन मगरमच्छ इत्यादि जीवों का होता है? ये जीव देखने में कितने अटपटे से लगते हैं, और भी अनेक प्रकार के कीड़ा-मकोड़ों में शरीर ऐसे देखने को मिलेंगे जो बेढब होते हैं, मगर इस जीव को ऐसा अटपट शरीर मिले वहाँ भी उसी तरह नाचता फिरता है, उसी शरीर में रमता है । चेते नहीं तो ये ही तो शरीर मिलने हैं । यह दो हाथ पैर वाला शरीर बार-बार नहीं मिला करता । कुछ अपने कल्याण की ओर भी आना चाहिए ।

धन का अमहत्त्व—भैया ! यह धन ही सब कुछ नहीं है । और सब कुछ क्या, कुछ भी नहीं है । इस धन के बिना भी तो गुजारा हो सकेगा । होता है बहुतों को देख लो । सम्यग्दृष्टि जीव चाहे भीख माँगकर पेट भर ले, पर वह धन को बड़ापन नहीं देता, परवस्तु का वह महत्त्व नहीं आंकता । यह तो एक परिस्थितिवश गुजारे की बात है । इस धन वैभव का महत्त्व देने से, इसकी चिन्ता में रहने से कुछ काम भी नहीं सरता । जिसके आना होता है, कुछ पता नहीं कि कहाँ से आता है? जिसके नहीं आना होता है, जाना होता है कुछ पता नहीं कहाँ चला जाय?

दृष्टान्तपूर्वक वैभव की पुण्यानुसारिता का समर्थन—नारियल के फल में आप बतलावो पानी कहाँ से घुस जाता है? उसका बड़ा मोटा छिलका होता है, जिसमें सूई भी नहीं प्रवेश कर सकती, ऐसे उस मोटे छिलके वाले नारियल के बीच में पानी कहाँ से आ गया? उसे फोड़ते हैं तो उसके अन्दर पानी निकलता है । और हाथी कैथ को खाले और दो-तीन दिन बाद उसे लीद में निकाल दे तो शायद देखा हो कहीं कि वह कैथ पूरा का पूरा निकल आता है, उस कैथ में कहीं भी छिद्र न मिलेगा, किसी ओर फटी रेखा तक न मिलेगा, और उसे हाथ से उठाकर देखो तो करीब दो तोले के वजन का वह निकलेगा । अरे जिस समय हाथी उसे निगल गया था तब तो वह करीब पाव भर का था । अब उसका सारा गूदा कहाँ से निकल पाया जब कि उसमें कोई छिद्र आदि भी नहीं है । तो जैसे नारियल के फल में पानी कहाँ से आ जाता है? कुछ पता नहीं, आ जाता है, ऐसे ही पुण्य के उदय में ये समागम कहां से आ जाते हैं? कुछ पता नहीं, आ जाते हैं । जैसे उस कैथ का रस कहाँ से निकल गया? पता नहीं, निकल गया, ऐसे ही पाप के उदय में इष्ट समागम कहां से खतम हो गया, निकल गया? पता नहीं । तो इस धन वैभव को इतना महत्त्व देना, उसकी चिन्ता करना, उसमें ही अपना समय बिता देना, यह विवेक की बात नहीं है । ज्ञानोपयोग बनायें, ज्ञानदृष्टि बनायें, इसमें ही आत्मा का लाभ है, इसमें ही आत्मा को शान्ति मिलेगी, निराकुलता होगी ।

उपादेय तत्त्व—यह जीवतत्त्व देह से अत्यन्त पृथक् है, किन्तु अनादि बन्धन में कर्मलेप रहने के कारण नाना अध्यवसानों से विशिष्ट होने से यह कर्मजाल से मलीमस हो रहा है । जो इस जीव के विभाव में हो वही चेष्टा करता है । तब इसका फल यह है कि एक शरीर छोड़ा, नवीन शरीर ग्रहण किया । शरीर ग्रहण करना, छोड़ना, ग्रहण करना, छोड़ना, यही मुख्य कार्यक्रम संसारी जीव का बना हुआ है । इस प्रकरण से हम यह दृष्टि में लें कि देह से भिन्न ज्ञानादि गुण सम्पन्न जो शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व है वही सर्वप्रकार से उपादेय है, ये बाहरी समागम उपादेय नहीं हैं, लक्ष्य में ये बाहरी समागम लेने योग्य नहीं हैं । यह परिस्थिति है । परिस्थिति ही समझकर उनसे लिपटें, पर करने योग्य बात तो अपने आत्मा में शाश्वत प्रवर्तमान जो ज्ञानस्वभाव है, हमारा प्राण है, सहज स्वरूप है, उस स्वरूप को ही हम दृष्टि में लें, इसमें ही हमें शान्ति का उपाय मिलेगा । हम ज्ञान बढ़ाये, भेदविज्ञान करें, आत्मा की उपासना करें, इसमें ही हम आपकी भलाई है ।

गाथा ३५

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तस्स ।
ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीद ।।३५।।

अशुद्ध जीवत्व का अभाव—सिद्ध भगवान के स्वरूप के वर्णन में कहा जा रहा है कि जिनके जीवस्वभाव तो नहीं हैं फिर भी उनके सर्वथा अभाव नहीं है । जीवस्वभाव से यहाँ तात्पर्य द्रव्यप्राण और भावप्राण के धारण करने से है । सिद्ध भगवान में जीवत्व नहीं है, क्योंकि द्रव्यप्राण और भावप्राण से अपने स्वरूप को नहीं रखते, फिर भी उनका सर्वथा अभाव नहीं है । यहाँ मुख्य दृष्टि इस ओर देना है कि दुनिया को और कुछ दार्शनिकों को जिन्हें जीवस्वभाव का परिचय है वह है अशुद्ध जीवस्वभाव, रागद्वेष आदिक भाव । और अंतर में चलो तो क्षायोपशमिक ज्ञानादिक भाव इन सब भावों का सिद्ध भगवान में अभाव है और कुछ दार्शनिक भी किन्हीं शब्दों में ऐसा मानते भी हैं ।

दार्शनिकों द्वारा भी अशुद्ध जीवत्व के अभाव का समर्थन—कोई दार्शनिक कहते हैं कि जैसे दीपक बुझ गया, इस तरह से आत्मा बुझ गया । जब तक इसमें जानने समझने की चेतना रहती थी तब तक यह अशुद्ध था, संसार में रुलता था । जब इसकी चेतना बुझ गयी, जानना देखना यह सब दूर हो गया तो उसकी मुक्ति हुई । कुछ लोग तो संसार अवस्था में भी ज्ञान का स्वभाव नहीं मानते । उनके मंतव्य से आत्मा में ज्ञान का सम्बंध होता है तब यह आत्मा जानता है । ज्ञान का सम्बंध हट जाय तब आत्मा का शुद्ध स्वरूप समझ पायेंगे ऐसा भी मंतव्य है । इन सबकी दृष्टि से यह कहा है कि ऐसा जीवस्वभाव अब मुक्त अवस्था में नहीं है, फिर भी सर्वथा जीव का अभाव नहीं है । वही शुद्ध ज्ञान दर्शन केवल ज्ञान दर्शन के रूप से वहाँ जीवत्व पाया जा रहा है ।

अशुद्ध जीवत्व की औपाधिकता—यह जीवस्वभाव तो कर्मजनित द्रव्यप्राणरूप और भावप्राणरूप है, इनका तो अभाव हो जाता है, और ज्ञान दर्शन प्राणों का अभाव नहीं होता तब तक सिद्धि भी नहीं होती है, लेकिन ये द्रव्यप्राण नहीं हैं, भावप्राण नहीं हैं, इस कारण सर्वथा जीव का अभाव होगा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए । वहाँ शुद्ध सत्ता, शुद्ध चेतना, शुद्ध ज्ञान आदिक शुद्ध भावप्राण रहते ही हैं । हाँ, वह देह और देह के सम्बंध से होने वाले समस्त उपद्रवों से पृथक् हैं । हम आपको जब तक अन्तरङ्ग भावना से इस शरीर से न्यारा होने को उत्सुकता न जगेगी तब तक हम आप संसार से पार की बाजी वाले नहीं कहला सकते, उसके पथिक भी नहीं रह सकते।

मनबहलावा व धर्मपालन—जिन पुरुषों में धन वैभव का व्यामोह है, धन को ही महत्त्व दिये हुए हैं और उससे भिन्न अपने आपकी सुध नहीं है, ऐसे पुरुष धर्मपालन करके भी जैसे व्यवहार में कहा करते हैं—क्या अन्तरङ्ग में आत्मीय शुद्ध आनन्द के पाने की विधि मिल सकती है? मन रमाने का साधन बनाना और बात है, और विशुद्ध शान्ति की अनुभूति करने की विधि बनाने का काम और है । हाँ, इतना भला अवश्य है कि ये ज्ञानीजन विषयों के, व्यसनों के प्रसंग से अपना मन नहीं बहलाना चाहते, और एक धर्मस्थान में आकर अपने परिचयी जीवों के बीच खड़े होकर अथवा अपने आपके भीतर जो सुख की वासना लगी है उसकी साधना ठीक बनी रहे और वह इस धर्म के प्रताप से ही होती है, ऐसा समझकर जो धर्म करने का श्रम करते हैं वे यद्यपि व्यसनों में दिल बगराने वालों से भले हैं, किन्तु यहाँ भी उनका मन बहलावा है, उन्होंने आत्मशान्ति का द्वार भी नहीं निरखा ।

आत्मनिर्णय—अपने आपमें अपनी बात सोच लो कि किसी भी दिन, किसी भी क्षण क्या यह तीव्र उत्सुकता हुई है कि मैं इस जन्म मरण और शरीर के सम्बंध से सदा के लिए छूट जाऊँ, इसी में मेरी भलाई है । मोक्ष तत्त्व के श्रद्धान के सम्बंध में यह बताया है कि यह अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव मोक्ष का स्वरूप जो निराकुलता है उसकी बाट नहीं जोहता । कितने सीधे शब्दों में यह बात है—'शिवरूप निराकुलता न जोय ।' बहिरात्मा निराकुलता की बाट नहीं जोहता, यही मोक्ष में विपरीत श्रद्धा है । रात-दिवस के प्रोग्राम—परिजन से मोह करना और धन वैभव से व्यामोह रखना, इसके सिवाय और कुछ है क्या मोही जीवों का प्रोग्राम? हाँ, है और भी थोड़ा-सा प्रोग्राम । खाना, लेटना और मल मूत्र निवृत्ति करना, यह और संग में लगा है । इनके अलावा भी है कुछ प्रोग्राम है । ऐसा ही मौज बनाये रहने के

भाव से घंटा दो घंटा भगवान के मंदिर में दर्शन, पूजन कर लेना, इससे आगे भी कुछ प्रोग्राम है क्या? नहीं । इससे परे का प्रोग्राम बन जाय तो उसका अज्ञानी की लिस्ट से नाम हट जायगा । व्यवहारधर्म भी वही करेगा, फिर भी अन्त:प्रकाश है ।

वास्तविक धर्मपालन की सुगमता—निज काम कितना सुगम और स्वाधीन है, यह जाननहार बुद्धि जाननहार में ही सीधे रास्ते से पहुंच जाय, कोई कष्ट की बात नहीं है । अरे उसी रास्ते में यह बुद्धि नाच गयी है, कहीं अलग नहीं है । उस ही पंथ से अपने अन्तरङ्ग में पहुंच जाय, कोई असुगम काम नहीं है, ये समस्त बाह्य पदार्थ बाह्य ही नजर आयें, इनसे मेरा क्या सम्बंध? ये मेरे कुछ न होंगे, इनसे मेरा कुछ भला न होगा । व्यर्थ के रागद्वेष के बढ़ावा में बढ़े चले जा रहे हैं । अपनी प्रकृति में जरा भी भंग नहीं डालना चाहते । जो जैसी आदत बन गयी, जिसमें रंगे पगे चले आ रहे उसमें अन्तर नहीं डालते, मोह ममता नहीं त्यागना चाहते तो बतावो धर्म की साधना किस ओर से आयगी ।

मुक्तावस्था में विभावपरिणमनों का अभाव—मुक्त अवस्था में शरीर की उत्पत्ति के कारणभूत परिणमन भी नहीं हैं, मन, वचन, काय के योग नहीं, क्रोधादिक कषायें नहीं, उनके तो कैवल्य है । कैवल्य का अर्थ है केवल वही-वही, अन्य कोई नहीं । जहाँ केवल आत्मा का स्वरूप ही रहे, पर सम्बंध वाली बात नहीं, पर सम्बंध नहीं, उस अवस्था को कैवल्य कहते हैं । हमें सिद्ध बनना है, ऐसा मन में उल्लास आता है या नहीं या मुझे अपने इन परिजनों को इतना होशियार बनाना, सुखी बनाना और इनके बीच अपने आपको प्रभु बनाकर रखना, और लौकिक यश बढ़े, लोक में मेरा नाम चले, लोग अच्छा कहें, ये सारे खुराफात करना ही इष्ट है या ऐसा भी मानते हैं कि मुझे कोई मत जानो, कोई मत मानो, मैं सबसे विविक्त हूँ। मुझे कोई जानता ही नहीं है । मुझे तो सबसे विविक्त केवल निजस्वरूपमात्र रहना है, और मुझे कुछ न चाहिए, ऐसी अन्तरङ्ग में भावना आती है या नहीं । नहीं ऐसी भावना आती है तो आप अपना बड़प्पन न समझिये, और समझिये कि जैसे संसार के और जीव हैं कीड़ा-मकोड़ा, पशु-पक्षी, बस उनकी बिरादरी में ही अभी हमारी गिनती है अर्थात् अज्ञान अवस्था ही बनी हुई है । नफा टोटे का असली हिसाब लगाइये ।

सिद्धों का अनन्त प्रताप—यह प्रभु मुक्त जीव, जिनका किसी से भी वास्ता नहीं है, अपने आपमें विशुद्ध निराकुलता को भोग रहे हैं, निराकुलता स्वरूप है । ये सिद्धप्रभु यद्यपि सांसारिक द्रव्यप्राण और भावप्राण से रहित हैं तो भी ये बड़े प्रभावशाली हैं । आत्मा का क्या प्रताप है? इसे लोग अशुद्ध प्रताप से कूतते हैं । पुण्य के उदय से स्थिति अच्छी हुई, कुछ राज्यपाट हुआ, समागम अच्छा मिला, शरीर में बल मिला, लोग पूछने लगे, कहते कि यह बड़े प्रताप वाला है । अरे इस आत्मा का अनन्त प्रताप तो इसके शुद्ध स्वरूप में पड़ा हुआ है । यह प्रताप तो उस प्रताप का बिगाड़ है, विकार है, खुरचन है । जैसे किसी बड़े हांडे में खिचड़ी पकाई जाय । पचासों आदमियों को जिमा दी जाय, उसके बाद दो एक भिखारी आये, वे मांगने लगें तो उस बर्तन को खुदेड़-खुदेड़ कर जो बचे उसे दे दी जाती, उतने में भी उनका पेट भर जाता है, ऐसे ही संसार के ये जितने प्रताप हैं ये आत्मा के अनन्त प्रताप की खुरचन हैं । वास्तविक प्रताप तो इस आत्मा के स्वरूप में पड़ा हुआ है।

अन्तःपुरुषार्थ का सन्देश—भैया ! किसी दूसरे पर दृष्टि ही मत दो, नहीं तो धर्म के लिए जो कुछ रचना बनायी वह सबकी सब फेल हो जायगी । किसी से कुछ मत चाहो । ये लोग मुझे अच्छा कह दें, ऐसी रंच भी बात किसी से मत चाहो । दूर से जान लो । संसार में अनन्त भव पाये थे ना? यदि मैं आज मेढक मछली होता तो इस लोक की निगाह में मैं कुछ कहलाता क्या? मान लो मैं ऐसा ही होता अथवा गर्भ में ही मर जाता या जन्मते समय मर जाता या कुछ छोटी उम्र में ही मर जाता, और ऐसे मौके हम आप सबके आये भी हैं कि जिस समय प्राणांत हो जाने को था । अब बच गये तो यह मुक्त का जीवन मान लो अर्थात् लोक में हमें कुछ भी अपना प्रताप नहीं करना है, केवल एक आत्मकल्याण के लिए हमें अपनी दृष्टि रखना है । ऐसा ही अवसर मान लो । इतनी बात सदा नहीं बन सकती है तो जब धर्मपालन

का हम कार्यक्रम रचते हैं उस समय तो रहने दें यह बात । यदि इतनी उत्सुकता हममें नहीं आती तब अपनी एक त्रुटि महसूस करें । और इस धर्मपालन की विधि में संतोष न माने जैसा कि आजकल किया जा रहा हो, अपने आप में अपने प्रताप का अनुभव करें ।

शुद्ध विकास की वचनागोचरता—ये सिद्ध प्रभु जिनकी हम पूजा करने आते हैं, उपासना करने आते हैं, ये अनन्त प्रताप से युक्त हैं, तीन लोक के विजयी हैं । इनका वर्णन वचनों से नहीं किया जा सकता । आत्मा में इतने अनन्त गुण हैं कि हम आप चाहे उन अनन्त गुणों का अनुभव कर लें, पर उनका वर्णन और उनकी गिनती नही कर सकते । जैसे रत्नों से भरे समुद्र में कदाचित् कोई ऐसी बाढ़ आ जाय, उथल-पुथल हो जाय कि पानी कहीं का कहीं पहुंच जाय तो वे सारे रत्न आपकी निगाह में आ गये, पर उनकी गिनती नहीं कर सकते । आप रत्नों की जगह रेत रख लें । पानी के उथल-पुथल से कहीं पानी अगल-बगल हो जाय, रेत का एक ढेर सा दिख जाय तो दिखने में तो वह ढेर आ रहा है, पर क्या कोई उन रेत के कणों की गिनती कर सकता है? नहीं कर सकता । ऐसे ही आत्मा में जो चमत्कार है, प्रताप है, अनंतगुण हैं इन सबका आप अनुभव तो कर लें निर्विकल्प स्थिति बनाकर, पर उन गुणों की गिनती आप नहीं कर सकते । ऐसे अनन्त गुणो से सहित ये सिद्ध प्रभु हैं ।

आत्मनिधि की सुध—जैसे किसी सेठ का बालक, ५-६ वर्ष की उम्र का था । सेठ जब गुजर गया तो सरकार ने उसकी लाखों की जायदाद अपनी निगरानी में ले ली । अब क्या हुआ, उसकी एवज में ५००) रु० महीना खर्च के लिए उसे मिलने लगे । बालक बड़ा हो गया १९-२० वर्ष का । जब तक वह नाबालिग था, गैर समझ था तब तक वह सरकार के बड़े गुण गाता था मुझे घर बैठे सरकार ५००) रु० महीना भेज देती है । जब उसकी समझ में आया कि मेरी तो लगभग १० लाख की जायदाद सरकार के अन्डर में है तो वह ५००) रु० महीना का लेना मना कर देता है, मुझे न चाहिए ये ५००) रु० । मुझे तो मेरी निधि दी जाय । ऐसे ही इस नाबालिग संसारी जीव की यह अनन्त प्रताप वाली निधि कर्म सरकार ने मानो जब्त कर ली है, उसकी एवज में यह थोड़ा-सा विषयसुख बांध रखा है, सो यह अज्ञानी जीव पुण्य सरकार के बड़े गुण गाता है, मेरे तो बड़ा ठाठ है, मेरे को बड़ा मौज है, पुण्य के यह जीव बड़े गुण गाता है । जब यह बालिग बन जाता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि हो जाता है, यथार्थ ज्ञानी हो जाता है तब इन मौजों को मना कर देता है, मुझे न चाहिए थे ये जड़ वैभव, मुझे तो मेरी आत्मनिधि चाहिए।

निराकुलता का प्रबन्ध—भैया ! अनन्त प्रताप है इस आत्मा में । निराकुलता से बढ़कर और कुछ भी नहीं है जीव का सर्वस्व । निराकुलता जिस विधि में मिले वही तो सबसे बड़ी बात होगी ना । अब खूब सोच लो निराकुलता कहा है और कैसे मिलती है? निराकुलता है मोक्ष में अर्थात् परसम्बंध से छूट जाने में केवल रह जाने में, निराकुलता है, और उसका उपाय है इस केवलस्वरूप की भावना करना । मैं सबसे न्यारा केवल चैतन्यस्वरूपमात्र हूँ, इतनी उदारता तो लाइये । यदि कुटुम्ब में ही ज्यादा मोह होता है तो औरों से मोह करने लगिये कुछ फायदा मिलेगा । यदि जड़ वैभव से प्रीति है, आसक्ति है तो उसे दूसरी के उपयोग में लगाइये कुछ लाभ मिलेगा । परवस्तुवों में आसक्ति न होना चाहिए । जब मैं इस देह से भी अत्यन्त न्यारे स्वरूप वाला हूँ तब फिर इस विविक्त आत्मतत्त्व का अन्य कुछ होगा ही क्या?

चिच्चमत्कारप्रताप की भावना—ये मुक्त भगवान अनन्त महिमावान हैं । केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति सम्पन्न हैं । उन्हें इस प्रकार न देखें कि इन्द्रिय आदिक नहीं रही, शरीर नहीं रहा तो वहाँ कुछ रहा ही नहीं । अरे अशुद्ध जीवत्व नहीं रहा, पर शुद्ध जीवत्व का तो सद्भाव है । चीज तो वह निखर गयी । जो कुछ सहज है स्वतःसिद्ध है वही रह गया है, ऐसी ही हमारी स्थिति हो, हम केवल रह जाये तो हमारी वह आखिरी मंजिल समझिये यही पूर्ण विश्राम का स्थान है, ऐसा निर्णय करके अन्त:शुद्धतापूर्वक अपने स्वरूप के अतिरिक्त समस्त बाह्यपदार्थों को न्यारा कर दें । मैं सबसे जुदा केवल

ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हूँ । इन लौकिक प्राणों के धारण के बिना, शरीर के सम्बन्ध के बिना, समस्त उपाधियों के बिना अपने सहज चैतन्य चमत्कार ज्ञान दर्शन प्रतिभास स्वरूप से सदैव प्रतिभाशाली है, बस सब कुछ जानने में आ रहा है, पूर्ण निराकुलता बनी है । अब अपने विकास से रंच भी डगमग नहीं हो पा रहे ऐसी अत्यंत शुद्धता प्रकट हो जाती है सिद्ध प्रभु में । वह हमसे कुछ जुदी जाति के नहीं हैं । हमारी ही तो चर्चा है । ऐसा ही मैं होऊँ, ऐसी भावना में ही अपनी भलाई है ।

गाथा ३६

ण कुदोचिवि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो सिद्धो ।
उप्पादेदि ण किंचिवि कारणमवि तेण ण स होदि ।।३६।।

सिद्धों में कार्यकारणता का अभाव—सिद्ध भगवान न कार्यरूप हैं और न कारणरूप हैं, उनमें कार्यकारण भाव नहीं है, इसका समर्थन इस गाथा में किया गया है । जैसे संसारी जीव देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी पर्यायों के रूप से उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार सिद्ध भगवान किसी विशिष्ट पर्यायरूप से उत्पन्न नहीं होते हैं इस कारण सिद्ध कार्य नहीं हैं । हम आप संसारी जीव कार्यरूप हैं । यह कार्यरूपता संसारी जीवो में कैसे प्रकट हुई है, इसे अब सुनिये ।

कारणों का विवरण—कार्य होने में दो कारण होते हैं—एक उपादान कारण और एक निमित्त कारण । उपादान उसे कहते हैं जो कार्यरूप परिणम जाय, अभिन्न कारण । और निमित्त कारण उसे कहते हैं जो उस कार्यरूप तो नहीं परिणमें, किन्तु उस परिणमते हुए में उपादान के परिणमन में निमित्तरूप हो । निमित्त उसे कहते हैं जिसका सन्निधान पाकर उपादान तदनुरूप परिणमे और उस प्रकार का सान्निध्य न मिले तो उस प्रकार का उपादान न परिणमें उसे निमित्त कारण कहते हैं । जितने भी कार्य हैं वे सब उपादान और निमित्त कारणपूर्वक होते हैं । अविशिष्ट कारण की अपेक्षा तो समस्त पदार्थों के परिणमन में कालद्रव्य निमित्त होता है, वह चूँकि अविशिष्ट कारण है, साधारण कारण है इस कारण उसे कारणरूप में न गिनिये । किसी को वह पदार्थ कारण पड़े, किसी को न पड़े, ऐसा विभाग जिनमें हो सके उनमें ही निमित्तकारण का व्यवहार होता है । कालद्रव्य तो सदैव रहता है और समस्त पदार्थों के परिणमन में निमित्त है, इस कारण कालद्रव्य को लोकप्रसिद्धि में कारण रूप से नहीं कहा गया ।

विशिष्ट निमित्त कारण—अब ऐसे निमित्तकरण का लक्षण कीजिए, और देखिये—जैसे कुम्हार घड़ा बनाता है, उस घड़ा बनानेरूप कार्य में मिट्टी तो उपादान है, उपादान कारण उसे कहा था ना जो कार्यरूप परिणम जाय । घड़ा बन गया तो वह मिट्टी ही तो घड़ारूप बन गयी, और उसमें निमित्त कारण हैं—कुम्हार, चक्र, दंड आदिक जो भी उस प्रक्रिया में काम आये । जिनके सान्निध्य बिना घट की उत्पत्ति नहीं हुआ करती वे सब निमित्त कारण हैं । ऐसे ही यह जीव देव, नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य का शरीर धारण करता है उसमें उपादान कारण क्या है और निमित्त कारण क्या है? इस सम्बंध में विशेष बात यह समझना कि यह जो पर्याय है यह एक द्रव्य की पर्याय नहीं है । इसे असमानजातीय द्रव्यपर्याय कहते हैं । जीव और ये शरीरवर्गणायें, कर्मवर्गणायें इन सबका जो यह पिंड है वह एक भव है, इस कारण इसमें उपादान कारण कुछ एक बताना कठिन है । एक शरीर वाली भवरूपी पर्याय में किसको उपादान कहा जाय? हाँ, चूंकि यह पर्याय भी सामूहिक है तो इसमें उपादान भी सामूहिक है । पुद्गल और जीव ये दो उपादान हैं, पर इनमें भी यदि भेद करके देखें तो जो रागद्वेष कषाय विषय योग आदिक भावरूप परिणमन हैं उन अशुद्ध पर्यायों का उपादान आत्मा है । और जो शरीर परिणमनरूप कार्य हैं उनके उपादान पुद्गल द्रव्य हैं । खैर ये सब होते कैसे हैं, इस पर दृष्टि दें ।

संसारी जीवों की सृष्टि में कारणरूपता—संसारी जीव भावकर्म से सहित हैं । रागद्वेष आदिक

अज्ञानभाव उस-उस काल में तन्मय हैं । वह आत्मा के परिणाम की संतति है । एक समय का रागद्वेष आदिक कोई-सा भी भाव इस जीव को नचाता नहीं है, विकार अनुभव नहीं कराता, किन्तु अनेक समयों का भावकर्म जब उपयोग में आता है तब वह विकार का अनुभव कराता है और यह संतति विभाव जाति में अनादिकाल से चली आयी है । अनादि संतति का जो भावकर्मरूप परिणमन है वह कारण है नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवपर्याय होने का । अर्थात् हमारे मोह रागद्वेष इन सांसारिक शरीर रचनावों का कारण बन रहे हैं । कैसे कारण और कैसे कार्य बन जाता, यह सब ज्ञान द्वारा ही जानने की बात है । उसका ऐसा विशेष विवरण जो इससे अपरिचित हैं, उनको बताया जाना अशक्य है । तभी तो लोगों की समझ में न आने के कारण इस सब सृष्टि को एक ईश्वर की लीला कह दिया जाता है । ईश्वर की लीला है इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु प्रत्येक आत्मा ईश्वर का स्वरूप ही तो है, उनका स्वभाव, उनका सत्त्व निरखिये तो सब ज्ञानानन्दस्वरूप हैं । जो ईश्वर का स्वरूप है वह सब जीवों का स्वरूप है । ये सब जीव मोह, राग, द्वेष भावकर्म करके संकल्प विकल्प करके इन भवों के कारण बन जाते हैं? नर, नारकादिक पर्यायों के होने में ये विभाव कारण हो जाते हैं ।

कारणों के विवरण की सीमा—अच्छा देखिये भैया ! आप तो यह भी नहीं बता सकते कि खिचड़ी कैसे पक जाती है? स्पष्ट बतावो । आप यही तो कहेंगे कि बटलोही में पानी डालकर चावल दाल मिलाकर चढ़ा दिये, नीचे से आग जला दी, ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि खिचड़ी पक जाती है । ठीक है, मगर पकते हुए दिखा दो कि देखो यह पक रही है । स्पष्ट बतावो । अरे इतना ही स्पष्ट होता है कि योग्य उपादान हुआ, योग्य निमित्त सान्निध्य हुआ, विभावरूप कार्य हुआ, इससे आगे और क्या स्पष्ट कहें? आप बोलते हैं, बहुत देर तक बोल सकते हैं, क, ख , ग, घ आदिक आप उच्चारण करते हैं, पर हमें यह बता दो कि यह क ख आदि शब्दों का उच्चारण कैसे हो जाता है? दिखा दो बना हुआ । अरे क्या दिखा दें, हो तो रहा है सब । उपादान और निमित्त सब योग्य सन्निधान होने पर ये सब कार्य हो रहे हैं । इसका और विचरण क्या करें? कहते हैं ना किसी चर्चा में बाल में खाल निकालना । आप कुछ बता ही नहीं सकते । कैसे क्या कार्य होता है । उनका और स्पष्ट क्या विवरण होगा? यह जीव मोह रागद्वेषभाव करता है उसका निमित्त पाकर ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म का बन्ध होता है । अब यह आत्मपरिणाम की संतति और पुद्गल परिणाम की संतति ये कारणभूत बने हैं । देव, नारक, तिर्यंच, मनुष्य पर्यायें उत्पन्न होने में यह कारण है । यह सब साधारणतया वर्णन चल रहा है ।

अध्यात्ममार्ग में विशिष्ट कार्य का अमहत्त्व—यह सृष्टि ऐसी विचित्र है और ऐसी मायारूप है कि यह सब कुछ है और कुछ नहीं है । तो भावकर्म और द्रव्यकर्म ये तो कारणरूप हो । कारण पाकर यह जीव देव, नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य पर्यायरूप से जिस प्रकार उत्पन्न हो जाता है उस प्रकार सिद्ध रूप से जीवों की उत्पत्ति नहीं होती कि उनमें कुछ सद्भावरूप कारण रहता हो और इन कारणों से कोई विशिष्ट कार्य बनता हो । देखिये सिद्ध अवस्था विशिष्ट कार्य नहीं है और संसार अवस्था विशिष्ट कार्य है । लोग तो विशिष्ट कार्य को महत्त्व देते हैं, पर शान्तिमार्ग में, अध्यात्ममार्ग में विशिष्ट कार्य का महत्त्व नहीं है । विशिष्ट कार्य तो निन्दा के योग्य होता है । जो बात जिस पदार्थ में स्वभाव में नहीं पड़ी है, वह बात हो जाना, इसी का नाम विशिष्ट कार्य है, और जो बात स्वभाव में पड़ी है वह हो गयी, कोई विशेष बात नहीं हुई, जो था जो है वही हुई सिद्ध दशा ।

सिद्धावस्था की अविशिष्टरूपता—सिद्ध दशा तो अविशिष्ट कार्य है और संसार दशा विशिष्ट कार्य है । सिद्ध भगवान कार्यरूप नहीं हैं । भावकर्म और द्रव्यकर्म का क्षय हो जाने पर स्वयं ही स्वयं में से विकसित हुई यह सिद्धपर्याय किसी अन्य चीज से उत्पन्न नहीं होती । कदाचित् यह कहें कि कर्मों के नाश से तो सिद्धपर्याय हुई, इसके समाधान में दो प्रकार की दृष्टि लगायें, कर्मों के अभाव से सिद्धपर्याय हुई तो इसमें निमित्त कारण किसे कहा जाय? कर्म तो निमित्तकारण नहीं होते, क्योंकि वे वहाँ हैं नहीं । हाँ

अभावरूप निमित्त कारण है, सो यह एक अपना यों सोचने के लिए है कि चूंकि कर्मों का सद्भाव संसार अवस्था का कारण था । दूसरी बात यह निरखिये कि चलो प्रथम समय की सिद्धपर्याय का कारण कर्मों का क्षय है, मगर अनंतकाल तक जो भी सिद्ध दशा बनी रहती है उसका कारण क्या है? कर्मों का क्षय तो नहीं कह सकते, कर्म हैं ही नहीं । क्षय किसका नाम है? यह सिद्ध दशा जीव की अकिंचन अवस्था है, इसलिए यह कार्यरूप नहीं है । जो विशिष्ट दशा हो उसे ही कार्यरूप से निरखा जाता है । ये सिद्ध भगवान किसी भी पदार्थ से उत्पन्न नहीं होते हैं इस कारण कार्यरूप नहीं हैं ।

सिद्ध प्रभु के कारणरूपता का अभाव—सिद्ध प्रभु कारणरूप भी नहीं हैं क्योंकि ये किसी पदार्थ को उत्पन्न नहीं करते । जैसे कि संसारी जीव भावकर्मरूप आत्म संतति को उत्पन्न करते हैं, मोह रागद्वेष विभावों को उत्पन्न करते रहते हैं तो ये संसारी जीव कारण हुए ना और इसी प्रकार द्रव्यकर्मरूप पुद्गल परिणामों की संतति को निमित्तकारण बनते हुए उत्पन्न करते हैं, सो उन कार्यों के कारणभूत बनते हैं, इस कारण ये संसारी जीव किसी कार्य के कारण हुए ना? इस प्रकार कारण बन-बनकर देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारक, पर्यायों को ये संसारी जीव कर रहे हैं । इस प्रकार से सिद्ध भगवान किन्हीं कार्यों को उत्पन्न नहीं करते, इस कारण सिद्धप्रभु कारणरूप नहीं है।

कारणकार्यरूपता के बिना शुद्ध सृष्टि का सर्जन—सिद्धप्रभु तो अपने आपके आत्मस्वरूप को रचते रहते हैं । अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्तआनंदरूप से अपने आत्मा को रचते हुए ये सिद्धप्रभु स्वयं ही कार्यरूप हैं, कारणरूप हैं, ये किसी के न कारण हैं और न कार्य हैं । एक तत्त्व की बात यहाँ यह भी ध्यान में रखें कि व्यक्तरूप से सिद्ध भगवान को कार्यरूप और कारणरूप नहीं कहा, फिर भी वहीं एक नय से कार्यरूपता और कारणरूपता बतायी जा सकती है, वह हैं शुद्ध रूप में, किन्तु अपने आप सबके आत्मा में स्वरसत: सहज विराजमान शाश्वत् जो चित्स्वभाव है उस स्वभाव लक्षण को देखकर निरखो—यह चित्स्वभावमात्र परमब्रह्म न किसी का कार्य है और न किसी का कारण है । शुद्ध अन्तस्तत्त्व में बन्ध मोक्ष का विकल्प नहीं है, कार्य कारण का विकल्प नहीं है । यों कार्य कारण भाव से रहित शाश्वत निज चित् रूप का जो ध्यान करता है, आलम्बन लेता है वहीं पुरुष प्रकट रूप में शुद्ध पर्याय पाकर कार्यकारण भाव से सर्वथा रहित हो जाता है । यही सिद्ध दशा प्राप्त करने का उपाय है ।

कार्य का अनुरूप उपाय—सिद्ध अवस्था में जो-जो आपको गुण मालूम हुए उनकी प्राप्ति का उपाय उस ही पद्धति से देखना चाहिए । प्रभु में यह केवलज्ञान कैसे प्रकट हुआ? यह केवलज्ञान निर्विकल्प है, और अपने आत्मा में जो ज्ञानस्वभाव है वह भी निर्विकल्प है । स्वभाव में विकल्प क्या? ऐसे निर्विकल्प आत्मस्वभाव का जो आलम्बन लेता है, निर्विकल्परूप से उसका आश्रय करता है ऐसा जीव केवलज्ञान को प्रकट कर लेता है । प्रभु में यह अनंत आनन्द कैसे प्रकट हुआ है? थोड़ा-थोड़ा यहाँ भी ऐसा देखा जाता है कि कुछ सुखरूप वार्ता की चर्चायें होती हैं तो कुछ सुखरूप परिणमन होता है और दुःखरूप वार्ता की चर्चाएँ चल जाये तो चूंकि दुःखरूप बातों में उपयोग है इसलिए कुछ न कुछ खेद भी हो जाता है । यों ही और अन्तर में चलकर देखिये—आत्मा में आनन्दस्वभाव है, जो शाश्वत अविकार स्वभावरूप है उस आनन्दस्वभाव का अनुभव करने से, उसे उपयोग में लगाने से और ऐसी ही स्थिरता कोई विशेष अन्तर्मुहूर्त मात्र बन जाय तो इस आनन्दस्वभाव के आलम्बन से यह अनन्त आनन्द प्रकट होता है । यह समग्र सिद्ध पर्याय कार्यकारण भाव से रहित है । कार्यकारण भाव से शून्य यह सिद्ध अवस्था हमारे कैसे प्रकट होगी? उसका उपाय है कार्यकारणभाव से शून्य जो निज ज्ञानस्वभाव है, चैतन्यस्वभाव है उस चैतन्यस्वभाव का आलम्बन हो तो उसके प्रसाद से यह कार्यकारण शून्य सिद्ध अवस्था प्रकट होगी ।

हमारी वर्तमान स्थिति—भैया ! हम आप आज जिस स्थिति में हैं, यह स्थिति बड़ी दयनीय है । थोड़े विषयसाधन पाकर मोहवश कुछ सुख मान रहे हैं । भले ही ये सब साधन आज बड़े सस्ते लग रहे हैं, किन्तु ये विषयभोग जो कि आज सुलभ और सस्ते लग रहे हैं वे भविष्य में अधिक महंगे पड़ेंगे । संसारी

जीवों का विस्तार तो निरखिये—किस-किस प्रकार के संसारी जीव हैं? जब कभी कहीं जाते हुए किन्हीं तड़फते हुए जीवों को निरख लेते हैं, कोई शिकारी सूकर मार रहा हो, बाँधकर छेद रहा हो, किसी पशु-पक्षी के कोई टुकड़े कर रहा हो

कोई ऐसी स्थिति देख लेते हैं तो हम आप लोगों का हृदय कितना व्यथित हो जाता है? लोग बड़े कोमल चमड़े के जूते बड़े शौक से पहिनते हैं जिसे क्रुम बोलते हैं यह किस प्रकार बनायी जाती है, सो देखो बहुत छोटे-छोटे बछड़ों पर बहुत तेज गर्म पानी फुवारे से डाला जाता है, जब वह चमड़ा खूब फूल जाता है तो जिन्दा ही खड़े-खड़े उस बछड़े की खाल निकाल ली जाती है ताकि चमड़ा मुलायम बना रहें । ऐसे चमड़े के बने हुए ये जूते आते हैं । तो हम आप जब कहीं तड़फते हुए जीवों को देख लेते हैं तो हृदय में महती वेदना उत्पन्न होती है । वह वेदना किस बात से होती है, जरा अन्त: परीक्षण तो करें, आप सोचें या न सोचें, पर अन्तरङ्ग में ऐसा स्पर्श होता है कि ओह ! हम आप भी कभी ऐसे ही जीव थे । ऐसे ही दयनीय स्थिति में तो हम आप भी हैं । इस स्थिति में मग्न मत होओ ।

आलम्ब्य तत्त्व —आज पुण्योदय से सब साधन ठीक हैं, अच्छी स्थिति है, पर यह तो एक नाटक जैसा है, ये सब बिछुड़ने वाली बातें हैं । इन सबके ज्ञाता भर रहो । उसमें मग्न होने से, मस्त होने से इस जीव को कुछ भी लाभ न मिलेगा । आश्रय लो तो अपने आप में शाश्वत विराजमान एक स्वरूप का, जिस स्वरूप की दृष्टि में समस्त जीव एक समान विदित होते हैं, जहाँ केवल एक चित्स्वभाव ही दृष्ट होता है । यह मैं हूं—इतनी भी कल्पना नहीं होती । यह मैं हूँ ऐसा स्पष्ट रूप में कल्पना जब बनती है तब उसकी वासना में यह भी भरा पड़ा हुआ है कि ये सब पदार्थ पर हैं । यद्यपि पर को पर जानना, निज को निज जानना पहिली पदवी में काम की बात है, किन्तु जिस समय इस चित्स्वभाव का अनुभव होता है, उपयोग होता है उस समय में यह पर है, यह मैं हूँ—इस प्रकार का विकल्प न चलेगा । वहाँ तो केवल एक चित्स्वरूप ही दृष्ट होगा ।

शुद्ध कार्यतत्त्व का दर्शन—कुछ दार्शनिक लोग यह कह डालते हैं कि यह आत्मा सब कुछ एक है और हम आप सब ये भिन्न-भिन्न जीव हैं । यह जीव जब उस एक ब्रह्म में लीन हो जायगा, अपनी सत्ता नष्ट कर देगा, ब्रह्म में ही समर्पित हो जायगा तब वहाँ मुक्ति है । इन वचनों में और रहस्य ही क्या है? यह उपयोग जो रागद्वेष से सम्बद्ध हो रहा है इस स्वभाव में लीन हो जाय, विशिष्ट उपयोग विलीन हो जाय, केवल एक चित्स्वभाव का अनुभव हो तो यही स्थिति मुक्ति का उपाय है । उस निर्विकल्प कार्यकारण भाव से रहित चित्स्वभाव का आलम्बन करने से यह सिद्ध दशा प्रकट होती है । यह सिद्ध अवस्था शुद्ध निश्चय से कर्म नोकर्म की अपेक्षा न कार्यरूप है, न कारणरूप है, किन्तु अनन्त ज्ञानादिक से सहित है, और कर्मोदयजनित जितने भी विकार हैं उन विकारों से शून्य है, यह ही अवस्था उपादेय है और इस अवस्था के होने का उपायभूत जो निज शुद्ध स्वभाव का आलम्बन है वह ही उपादेय है, यह शिक्षा इस गाथा से मिलती है ।

गाथा ३७

सस्सदमध उच्छेदं भव्वमभव्वं च सुण्णमिदरं च ।
विण्णाणमविण्णाणं ण वि जुज्जदि असदि सब्भावे ।।३७।।

मुक्तावस्था में जीव के अभाव का निराकरण—कुछ लोग मुक्त अवस्था में जीव के अभाव को मानते हैं। जब तक जीव है तब तक संसारी है और इस जीव का अभाव हुआ उसी के मायने मोक्ष है । इस प्रकार यदि जीव के अभाव का नाम मोक्ष माना जाय अर्थात् मुक्त अवस्था में जीव के सद्भाव का निराकरण किया जाय तो इस जीवतत्त्व के बारे में, शुद्ध ब्रह्म के सम्बंध में जो दार्शनिकों ने अपना मंतव्य रखा है उन सबकी कैसे सिद्धि होगी? और देखिये, जीव का अभाव होने पर जो शाश्वतरूपता बतायी

जाती है वह किसमें विराजेगी? यह ब्रह्म शाश्वत है, द्रव्यरूप से यह जीव अविनाशी है, यह किसमें बताया जावे, क्योंकि तुमने तो अभाव ही मान लिया ।

मुक्त अवस्था में जीव के सद्भाव की सिद्धि—मुक्त अवस्था में भी जीव का सद्भाव है और इस आधार पर यह कथन युक्त है कि जीव शाश्वत हैं । शाश्वतता तो जीव के अभाव में बनेगी कैसे? उच्छेद भी नहीं बन सकता । जीव अपनी पर्यायों को विनष्ट करता है, यह तभी सम्भव है जब जीवद्रव्य का सद्भाव माना जाय । जीवद्रव्य पर्यायरूप से उच्छेद करता है । यों उच्छेदरूप से परिणमने वाले कोई पदार्थ हुए ना? तभी उच्छेद सम्भव हो सकता है। द्रव्य नित्य हो, पर्यायों का प्रतिसमय में उच्छेद माना जा सकता है । इस जीव में और जीव में ही क्या समस्त पदार्थों में भव्यता और अभव्यता दोनों बातें पायी जाती हैं । यह सिद्ध जीव भव्य याने भाव्य भी है और अभव्य याने अभाव्य भी है । जो पर्याय जिस योग्य है, अपनी ही शुद्ध सृष्टियां होने योग्य हैं, वे होवे इसका नाम भव्यता है। जो बात अब होने योग्य नहीं है, देव, मनुष्य, नारकी, तिर्यंच रूप में यह जीव अब नहीं बन सकता । यह मुक्त जीव अब संसार में नहीं रुल सकता, । तो जो बात नहीं हो सकती है उसका न होना इसका नाम अभव्यता है । जो होने योग्य परिणमन है, शुद्ध सृष्टि है वह हो, यह भव्यता जीवद्रव्य में तब ही तो मानी जायगी जबकि कोई जीव नामक पदार्थ उस मुक्त अवस्था में है । सभी द्रव्यों में भव्यता और अभव्यता पायी जाती है । चाहे वह जीव हो, पुद्गल हो, कोई सा भी पदार्थ हो । जो पर्यायें नहीं है, अभूत हैं, उन पर्यायोंरूप से होने का नाम भव्यता है या भाव्यपना है, और जो पर्यायें पहिले गुजर गयी हैं वे पर्यायें उस द्रव्य में आ नहीं सकतीं, इसलिए यह अभव्यता है ।

भव्यता व अभव्यता से पदार्थ की सिद्धि—जो होने योग्य है उसका होना और जो हो चुका है उसका कभी भी न होना ये दो बातें प्रत्येक पदार्थ में हैं । जैसे जो समय गुजर गया वह समय वापिस नहीं आ सकता । जो गुजर गया सो गुजर गया । कितने ही उपाय करें, उस बीते हुए समय की वापिसी नहीं हो सकती । ऐसे ही पदार्थ में जो पर्याय व्यतीत हो गयी अब वह गुजरी पर्याय उस पदार्थ में आ नहीं सकती । भले ही उसके समान दूसरा आये अथवा उससे भी उत्तम दूसरा आये, पर जो पर्याय व्यतीत हुई वह नहीं हो सकती । मुक्ति की भव्यता व संसार की अभव्यता है, यह बात तब कही जायगी जब कोई जीव नामक पदार्थ माना जाय ।

पदार्थ में शून्यता व अशून्यता का दर्शन—देखो प्रत्येक पदार्थ में शून्यता और अशून्यता पड़ी हुई है । कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्य के रूप से तो शून्य है । किसी भी द्रव्य में अन्य कोई दूसरा द्रव्य नहीं है । प्रत्येक पदार्थ सूना है, कहते हैं ना कि यह घर सूना है, यह कमरा सूना है । सूना है—इसका अर्थ यह है कि इस कमरे में कमरे की चीज के अलावा और कुछ नहीं है, सूना है। जब आप रात में या दिन में बाहर से आकर घर की सांकर हिलाते हैं कि कोई आकर खोल जाय (जब कि किवाड़ भीतर से बन्द रहते हैं) तो आपके कुटुम्बी जनों में से कोई आकर पूछता है कि आप कौन हैं ? तो आप क्या उत्तर देते हैं? कोई नहीं । अरे कोई नहीं कैसे? आप सरासर मौजूद हैं, उस कोई नहीं का यह अर्थ है कि मेरे अतिरिक्त कोई नहीं, मैं हूँ । तो अपने को ही शून्य बता दिया । और कभी-कभी ऐसा भी कह बैठते ह कि आप, जब भीतर से कोई पूछता है कि आप कौन हैं तो आप उत्तर देते हैं कि मैं हूँ । अब 'मैं हूं' ऐसा कहने में कोई सही जवाब है क्या? मैं हूँ का अर्थ है कि मैं ही हूँ, परिपूर्ण, अशून्य । आप बिल्कुल दार्शनिकता सम्बंधी झांकी दिखा देते हैं । अन्य कोई नहीं है, मैं हूँ, इसका अर्थ है शून्य होना और अशून्य होना ।

मुक्त जीव में शून्यता व अशून्यता का विवरण—प्रत्येक पदार्थ परद्रव्यों से शून्य है, किसी पदार्थ में कोई दूसरा पदार्थ नहीं लिपटा है । अरे इस जीव में शरीर तक तो लिपटा नहीं है । भूले ही यह जीव

बड़े बन्धन में है, स्वतंत्र नहीं है, शरीर को छोड़कर कहीं जा नहीं सकता, तिस पर भी शरीर जीव में लिपटा नहीं है । जीव द्रव्य में पुद्गल द्रव्य का सत्त्व न प्रवेश कर सकेगा । ये भिन्न-भिन्न ही है, यह जीव द्रव्य शून्य है । किसी जीवपदार्थ में अन्य दूसरे पदार्थ का अभाव है और यह जीव अशून्य है । अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन सबसे परिपूर्ण है । यह बात तभी कही जा सकती है जब जीवद्रव्य का सद्भाव हो । मुक्त जीव शून्य है और मुक्त जीव अशून्य हैं पर द्रव्यों का प्रवेश नहीं है इस कारण शून्य है । अपनी शक्तियों का विकास है, उससे परिपूर्ण है, तन्मय है इस कारण अशून्य है ।

अनन्तता व सान्तता से मुक्त जीव पदार्थ की सिद्धि—किसी जीवद्रव्य में अनन्तज्ञान है और किसी जीव में सांत ज्ञान है । अथवा एक ही जीव में मुक्त जीव में अनन्त ज्ञान है और सान्त ज्ञान है । अनन्त ज्ञान है, यह तो स्पष्ट है । प्रभु अनन्त पदार्थों को जानते हैं इस कारण अनन्तज्ञान है । प्रभु के ज्ञान का कभी अन्त नहीं हो सकता इस कारण अनन्तज्ञान है, फिर भी जिस समय में जो ज्ञानपरिणमन हुआ उस ज्ञानपरिणमन में उस समय उस पदार्थ को जाना । दूसरे समय में द्वितीय ज्ञान परिणमन ने पदार्थ को जाना । चूँकि उन समस्त ज्ञानपरिणमन में विषय वही का वही रहता है, इसमें भेद नहीं मालूम देता, लेकिन पदार्थ में प्रति समय में परिणमन निरन्तर चलता रहता है । और जो परिणमन व्यतीत हुआ वह फिर नहीं आता । इस प्रकार वह शुद्ध सदृश ज्ञानपरिणमन भी प्रति समय नवीन-नवीन रहता है । तो जिस समय में जो ज्ञानपरिणमन हुआ वह अगले समय में नहीं है, इस कारण वह ज्ञान भी सान्त है । प्रत्येक पदार्थ में पर्यायें सान्त रहा करती हैं । यह ऐसे भी तभी तो कहा जा सकता है जब जीवद्रव्य का सद्भाव माना जाय । ये सब बातें जीवद्रव्य का सद्भाव न मानने पर नहीं बन सकती, इस कारण यह सब वर्णन मुक्त जीव में, मुक्त अवस्था में जीव के सद्भाव को प्रकट करता है ।

अपने उपादेय तत्त्व की स्वत: सिद्धि पर दृष्टान्त—इस गाथा में यह भी दृष्टि दिलाई गई है कि अपने आप में यह निर्णय करें कि ऐसा जो शुद्ध तत्त्व है वही उपादेय है, सारभूत है । अन्य किसी पर दृष्टि लगाना हितकारी नहीं है । देखो यह शुद्ध अवस्था टंकोत्कीर्ण ज्ञायकरूप से अविनश्वर है । हुआ क्या सिद्ध अवस्था में? जो था वही हुआ । अन्य कुछ नहीं हुआ । जैसे किसी बड़े पाषाण में से कोई मूर्ति बनवानी है, कारीगर को बुलवाया, पत्थर दिखाया, और जैसी मूर्ति बनवानी है तैसा चित्र आकार नाप तौल सब बताया तो वह कारीगर एक ही नजर में उस पत्थर में मूर्ति का दर्शन कर लेता है । यदि कारीगर को उस पत्थर में मूर्ति का दर्शन न हुआ होता तो वह उसमें से मूर्ति बना ही न सकता था । वह अब उस मूर्ति के आवरक पाषाणखण्डों को किस तरह निकालता है, उसकी कला देख लीजिए । कभी वह अटपट छैनी हथौड़े नहीं चलाता है कि जहाँ चाहे मार दे, पत्थर के टुकड़े कर दे । वह कारीगर धीरे से अगल-बगल के मूर्ति के आवरक पत्थरों को हटाता है और ज्यों-ज्यों उस मूर्ति का कुछ व्यक्त रूप होने लगता है, त्यों-त्यों कारीगर और बड़ी सावधानी से उन आवरक पत्थरों को निकालता है । और जब पूर्ण व्यक्त रूप हो आता है तब उसकी सफाई के लिए वह छोटे-छोटे औजारों को अत्यन्त धीरे-धीरे चलाता है और उसे स्वच्छ बना लेता है । लो कारीगर ने क्या किया? लोग कहते हैं कि कारीगर ने मूर्ति बना दी । अरे कारीगर ने कौन-सा नया काम किया? हा नया काम उसने उच्छेद का किया । सृष्टि का कोई नया काम नहीं किया । मूर्ति के आवरक जो पाषाण थे, जो कि मूर्ति को ढके हुए थे उन पाषाणों को दूर किया, चीज वही निकली जो उसमें थी।

मुक्त अवस्था में विकास की स्वत: सिद्धि—टङ्कोत्कीर्ण दृष्टान्त के अनुसार जब इस जीव को यह भान हो जाता है शुद्ध स्वरूप का वर्णन सुनकर ज्ञान करके महिमा जानकर इस प्रकार जब इसकी भावना हो जाती है कि मुझे तो सिद्ध बनना है, सर्व कर्मों से विमुक्त होकर केवल बनना है, जब उसकी यह भावना होती है तो उसे इस अपने आप में जीव में, जो कि अशुद्ध पर्याय में चल रहा है वहाँ भी वह शुद्ध स्वरूप नजर में आने लगता है । अब यह सम्यग्दृष्टि कारीगर इस ज्ञायकस्वरूप को आवरण करने वाले

जो विषयकषाय के परिणाम हैं उन परिणामों को दूर करता है । विषयकषायों का उच्छेद हुआ विभाव दूर हुए कि यह ज्ञायकस्वभाव जो अपने सत्त्व के कारण स्वत: जिस स्वरूप को रख रहा है, बस वह स्वरूप अब प्रकट हो गया । इसी के मायने हैं सिद्ध हो गया, मुक्त हो गया । यह सिद्ध अवस्था कुछ बनाई नहीं गयी, किसी चीज से इसका निर्माण नहीं किया गया, किन्तु इसके व्यक्त करने के प्रयोग में उच्छेद का ही काम किया गया है । पहिले तो भेदविज्ञान के प्रयोग से बहुत से विभाव परिणामों का उच्छेद किया, फिर जैसे यह अपने शुद्ध स्वरूप के निकट आया, कुछ व्यक्त होने लगा तो निज अभेद ज्ञान के प्रयोग से इसने अपने अंतरङ्ग में पुरुषार्थ बढ़ाया, मगर चुप्पी अधिक आयी । अब वे तीव्र योग नहीं रहे जो प्रथम भेदविज्ञान के प्रयोग में रहते थे । अब लो—इस निज अभेदविज्ञान के प्रयोग से और भी यह स्वयं व्यक्त हुआ । व्यक्त ही हो गया तब, अब मन का भी वहाँ कोई काम नहीं है, गति नहीं है, अब स्वयं ही अपने आप में अपने ही शुद्ध परिणमन के प्रताप से रही-सही औपाधिक अशुद्धि भी दूर हो जाती है । यह आत्मा जब केवल सिद्ध के स्वरूप में व्यक्त हो गया तो वहाँ व्यवहारीजन क्या कहते हैं—सिद्ध पर्याय उत्पन्न हो गयी, सिद्ध भगवान बन गये । अरे सिद्धभगवान किसने बनाया? जो था सो अब प्रकट हो गया । बनना तो उसका नाम है कि जो हो नहीं वह हो जाय । यह सब बड़ी सावधानी से द्रव्य और पर्याय की दृष्टियों को बराबर अदल-बदलकर ध्यान में लेते रहने से कथन स्पष्ट होता है ।

मुक्त अवस्था में परिणमन—यह प्रभु द्रव्यरूप से शाश्वत है और पर्यायरूप से अगुरुलघुत्व गुण के षट्स्थान पतित वृद्धि-हानि की अपेक्षा से इनका निरंतर उच्छेद हो रहा है, इसका अब यह परिणमन किस प्रकार का है? संसारी जीवों से तो उपमा कुछ मिलती नहीं, मात्र एक सिद्धपरिणमन को बताना है । इसमें या तो उपमा यही लगेगी कि सिद्ध का चमत्कार सिद्ध की तरह है, दूसरा कुछ उपमा के लिए मिलता ही नहीं है, अथवा कुछ-कुछ कहना भी चाहें तो जो शाश्वत सत् पदार्थ धर्म, अधर्म, आकाश, काल हैं इसमें जैसे अगुरुलघुत्व गुण की वृद्धि हानि से जो परिणमन जिस पद्धति से चलता रहता है उस पद्धति से जो परिणमन हो रहा है । अब इसका होना किस प्रकार हो रहा है? निर्विकार, शुद्ध, ज्ञानानन्दस्वभावरूप से अब सिद्ध का परिणमन हो रहा है, और जो मिथ्यात्व रागादिक विभावपरिणाम चल रहे थे वे तो अब अतीत हो गये ना? तो जो अतीत हो गए हैं अशुद्ध परिणाम के रूप से वे कभी भी न होंगे ।

हितमयी स्थिति—भैया ! किस अवस्था में इस जीव का हित है, यह भी साथ ही साथ दृष्टि में रखते हुए सिद्धस्वरूप पर नजर रखना है । परम निराकुल दशा इस ही स्थिति में है । एक साल दो साल का भी बालक जरा-सा हँस दे और कंधे पर या सिर पर हाथ रख दे, बस इतनी ही चेष्टा वह बालक करता है और यह जो अपने को उसका मालिक मानता है उसको पूरी उल्झन में फंस जाना पड़ता है, उस बालक की थोड़ी-सी ही चेष्टा से समझो अब वह बन्धन में आ गया । तो बन्धन आपने अपने आप अपने ही विकल्प से प्रीति-परिणाम बनाकर ही तो किया है । उस सालभर के बालक में आपको बन्धन में डालने की कला कहाँ है जो बेचारा बालक अभी बोलना भी नहीं जानता । यों ही समझिये प्रत्येक पदार्थ चाहे वह चेष्टावान हो अथवा अचेष्ट हो, ये आपका कोई बन्धन नहीं पैदा करते । आप खुद ही अपने मन का संकल्प-विकल्प बनाकर अन्य पदार्थों के वश होकर पराधीन हो जाते हैं । तब भी आप पराधीन नहीं हैं, किन्तु कल्पना में पराधीन हो जाते हैं । और ऐसी पराधीनता की स्थिति ही अहितरूप है ।

परमकल्याण व उसका उपाय—ये सिद्धप्रभु हित की मूर्ति हैं, कल्याणमय हैं, शिवस्वरूप हैं, परमानन्दमय हैं, यह अवस्था ही हितरूप है । अब जो उनमें शुद्ध अन्तस्तत्त्व प्रकट हुआ है उस रूप से वे हैं, अन्य विभावरूप से वे नहीं हैं । अब उनके अनंतज्ञान है, मतिज्ञानादि का उनके उच्छेद है, ऐसी उत्कृष्ट विकासरूप स्थिति है, उसकी ही हम आप पूजा करने आते हैं । हमें यह भावना आनी चाहिए कि मुझे तो यही स्थिति उपादेय है । इस शुद्ध विकास की और शुद्ध विकास के कारणभूत चैतन्यस्वभाव की अभिरुचि जगे, यही कल्याण का प्रारम्भिक उपाय है ।

गाथा ३८

कम्माणं फलमेक्को एक्को कज्जं तु णाणमध एक्को ।
चेदयदि जीवरासी चेदगभावेण तिविहेण ।।3८।।

चेतयितृत्व के स्वामित्व का निर्देशन—इस अधिकार में प्रथम गाथा में यह सूचित किया था कि यह जीव है और चेतयिता है आदिक कुछ विशेषण कहे गये थे, उनके ही आधार पर व्याख्या चल रही है । जीव का वर्णन कर दिया, अब चेतयितृत्व का वर्णन कर रहे हैं । यह जीव चेतने वाला है, ऐसा सुनकर यह प्रश्न होता है कि जीव किसका चेतने वाला है, किसको चेतता है? उसके ही समाधान में यह गाथा आयी है । कोई जीव तो कर्मों के फल को ही प्रधानता से चेतता है । कोई जीव ऐसे होते हैं कि कर्मसहित कर्मफल को चेतते रहते हैं । क्रिया भी करते हैं और व्यक्तरूप से सुख दुःख का अनुभव भी होता है, और कोई जीव ऐसे होते हैं कि वे मात्र ज्ञान का ही चेतन करते हैं ।

कर्मफलचेतयितृत्व के अधिकारी—ऐसे भी कुछ जीव हैं जो प्रधानता से कर्मफल चेतन करते हैं । वे जीव हैं स्थावर । स्थावर जीवों के अंगोपाङ्ग न होने से उनके देह की क्रियाएँ नहीं होतीं । और इस दृष्टि से वे कुछ कर्म कर नहीं पाते । कर्म का अर्थ यहाँ क्रिया है, और उस क्रिया के बिना कर्म के फल को चेतते रहते हैं । चूंकि उनमें अङ्गोपाङ्ग न होने के कारण कर्म को नहीं चेतते, अत: जो कुछ वे चेतते हैं सुख-दुःख, वे अव्यक्त रूप से चेतते हैं । लोगों को भी पता नहीं होता । और वे भी त्रस जीवों की तरह कुछ व्यक्त विकल्प करते हुए न चेतते होंगे । उनका विकल्प भी ऐसा अव्यक्त उनके लिए तो उन पर गुजरी हुई विकल्प प्रवृत्ति चलती है । स्थावर जीवों का कितना निम्नतम स्थान है जीवराशि में । ये पृथ्वी, जल, अग्नि , वायु, वनस्पति और उन वनस्पतियों में भी निगोद ये कितने निम्न स्थान हैं, जिनका कुछ व्यवहार ही नहीं । अनेक लोग तो इनको जीव भी नहीं मानते । ये जीव अत्यन्त मोह से मलीमस हैं, इतने मोह मुग्ध हैं कि वे अपने आप में भी अपनी कोई व्यवस्था नहीं बना पाते । वे मस्त बेहोश पड़े हुए हैं ।

स्थावर राशि से निर्गमन की दुर्लभता—हम आपने स्थावर राशि में अनन्तकाल व्यतीत किया है । सुयोगवश आज मनुष्य हुए, उत्तम कुल, उत्तम धर्म, उत्तम समागम सब कुछ पाया, लेकिन वही चाल ढाल अब भी बसाये हुए हैं जो बहुत पूर्व काल में बसाये हुए थे । कोई भी परिवर्तन नहीं दिखता । उल्टा कुछ और विकारों में ही बढ़ गये हैं । फल क्या होगा कि पुन: ऐसे स्थावर जीवों में उत्पन्न होने की नौबत आयगी कि फिर वहाँ कुछ भी पुरुषार्थ न किया जा सकेगा । वहाँ से जब जैसे निकलना हो निकलेंगे ।

स्थावरों की परिस्थिति—ये स्थावर जीव अत्यन्त अधिक मोह से मलीमस हैं । ज्ञानावरण का उनके तीव्र उदय है उससे उनका प्रभाव मुद्रित हो गया है । कैसे यह जीव अपने परिणाम के कारण निमित्तनैमित्तिक योग से कैसी-कैसी स्थितियों को पा लेता है? अब पूछा जाय कि बतलावो तुम मरकर पेड़ बनना चाहते हो? तो शायद कोई भी छोटा से भी छोटा पुरुष यह न चाहेगा कि हम पेड़ बन जाये । किन्तु करनी में अन्तर न डालें, वे ही मोह की बातें बनी रहें तो पेड़ आदि बनना ही पड़ेगा । ये स्थावर जीव जिनकी ज्ञानावरण से बुद्धि शक्ति अत्यन्त मुद्रित हो गयी है लेकिन है तो आखिर चेतन । यह चेतक स्वभाव जायगा कहाँ? यदि इतनी खराब हालत हुई है तो जरा और खराब हालत हो जाती, चेतना भी नष्ट हो जाती, तब भी भला था हम अचेतन रहते तो क्लेश तो न भोगने पड़ते, मगर यह होता कैसे है? कितनी भी निम्नतम स्थिति हो जायगी, पर इस चेतन का चेतकस्वभाव जायगा कहाँ? इस चेतकस्वभाव के कारण कुछ न कुछ चेतने का भाव करेगा ही । क्या करेगा ? कार्यकारण की सामर्थ्य तो विनष्ट-सी हो गयी । वीर्यान्तराय कर्म का वहाँ बड़ा प्राबल्य है जिससे इसकी शक्ति पूर्ण रुद्ध-सी हो गयी है । अब ये स्थावर जीव शुभाशुभ कर्मफल को भोगने का काम करते रहते हैं ।

स्थावरों में आत्मशक्ति का अवगुण्ठन—देखो मनुष्यों में, पशुवों में, पक्षियों में कुछ शक्ति का अन्दाज

होता है । है शक्ति । मन, वचन और काय के रूप से उनमें कुछ इस प्रकार का काम होता है कि जिससे शक्ति विदित होती है और ये दो इन्द्रिय तक भी इनमें स्थावरों की अपेक्षा शक्ति विशेष नजर आती है । ये केंचुवा, लट आदि दो इन्द्रिय के जीव चलते हैं, फिरते हैं, मुड़ भी जाते हैं, गोल भी हो जाते हैं, चलते हुए लौट आते हैं । ये स्थावर क्या करें? जहाँ पड़े हैं, पड़े हैं; जहाँ खड़े हैं, खड़े हैं । यह शक्ति की ओर से बात चल रही है । कोई यह न बीच में तर्क उठाये कि देखो पेड़ गिर जाता है तो दसों आदमियों की हत्या कर डालता है । अरे वह पेड़ क्रिया करके नहीं गिरा, यों तो कोई भी काठ, पत्थर अजीव पदार्थ खड़ा हो और वह गिर पड़े तो उससे बहुत से जीव मर जाते हैं । तो उनका यह गिरना उनकी क्रिया में शामिल नहीं है । वह उनकी उस प्रकार की प्रकृति है । जहाँ वीर्यान्तराय कर्म अधिक उदित है वहाँ कार्यकारण का सामर्थ्य दब गया है । अब वह चूंकि चेतकस्वभाव वाला तो है ही तो अब किसे चेतेगा? तो वह सुख दुःखरूप कर्मफल को ही प्रधानता से चेतता है ।

स्थावरों में कर्मफलचेतना की प्रसिद्धि—भैया ! स्थावरों में भी क्रिया का सर्वथा अभाव नहीं होता है, ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसमें क्रिया न होती हो । परिणमन ही क्रिया है । एक परिणमन क्रिया के बिना सुख दुःख की चेतना भी कैसे बनेगी, किन्तु यहाँ कर्म से मतलब व्यक्त क्रियावों से है । ये क्रिया से रहित होकर आसक्ति के कारण प्रधानरूप से कर्मफल को ही चेतते हैं । इन स्थावरों में चेतने का स्वभाव है । चेतन पृथ्वी जो ऊपर धूलरूप में है यह चेतन नहीं हो सकती, किन्तु जो खोदते हैं, खान से मिट्टी निकलती है, मिट्टी, मुरमुर, जमीन कंकड़, पत्थर, भीतर में जो कुछ पड़ा है वह जीव है । जल जो बहता रहता है वह जीव है । बहने वाला, बरसने वाला, रुकने वाला ये सब जल जीव हैं । अग्नि जीव है, हवा जीव है, वनस्पति जीव है । वनस्पति का जीवपना अपेक्षाकृत उन चारों से स्पष्ट ज्ञात होता है । ये बढ़ते हैं, हरे होते हैं, कभी कुम्हलाते हैं, कभी विकसित होते हैं । इनमें प्रकृत्या कुछ ग्रहण करने वाली, कुछ फेंकने वाली वायु पायी जाती है । इसमें जीवपने का चेतने का कुछ विशेष बोध हो जाता है । देखो इसमें चेतना कैसी मूर्छित है कि इसमें चेतन है, यह भी अवगम करना कठिन हो गया है । ऐसे ये स्थावर जीव कर्मफल को ही प्रधानता से चेतते हैं ।

त्रिविध चेतनाओं के विविध विवरण की पद्धति—इस प्रकरण में यह कहा जा रहा है कि चेतना तीन प्रकार की होती है—कर्मचेतना, कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतना । इन तीनों का वर्णन समयसार में जिस प्रकार किया गया है वह एक अपूर्व अध्यात्मदृष्टि से वर्णन है । यह भी कुन्दकुन्दाचार्यदेवकृत ग्रन्थ है, फिर भी एक दृष्टि और प्रकरण कुछ अन्य-अन्य होने से वही वर्णन अपनी विशिष्ट-विशिष्ट पद्धति को रखने लगता है । इस ग्रन्थ में सिद्धान्तस्थापन की भी दृष्टि अपनाई गई है ।

त्रिविध चेतनाओं का अध्यात्मविवरण व कर्मचेतना—समयसार में इन तीन चेतनावों का वर्णन इस प्रकार है कर्म चेतना—ज्ञान के सिवाय अन्य परिणमनों में इसे मैं करता हूँ, इस प्रकार की चेतना कर्मचेतना कहलाती है । कोई पुरुष अपने को ज्ञानरूप ही चेते, मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानप्रकाशरूप हूँ, जिसका काम केवल जानन है, जानन में जानन होता है, विकारों का वहाँ स्थान नहीं । रागद्वेष विभाव, पर के आकर्षण, पर की दृष्टियाँ ये सब मुझमें कहाँ पड़ी हैं? मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूँ । केवल जाननरूप से ही मैं चेतता हूँ, केवल जाननरूप को ही कर रहा हूँ, केवल इस जाननरूप ही मैं परिणम रहा हूँ, अन्य मेरा कुछ काम ही नहीं । सर्वत्र मैं जानता ही जानता रहता हूँ, इस प्रकार का चेतन हो तो वह ज्ञानचेतना है, किन्तु ऐसा चेतन न बनकर मैं अमुक को सुख देता हूँ, अमुक को दुःखी करता हूँ, मकान बनाता हूँ, धन कमाता हूँ, दूकान करता हूँ, इतना आरम्भ कर लिया है । ओह करने-करने का ही बोझ लादना, यही तो कर्मचेतना है ।

कर्मफलचेतना का अध्यात्मविवरण—कर्मफलचेतना—ज्ञान के सिवाय अन्य परिणमनों में इसे मैं

भोगता हूँ, ऐसा चेतन करना कर्मफलचेतना है । जब कि ज्ञानी जीव अपने आपमें अपने आपको इस प्रकार चेतता है कि जो मेरा जाननस्वरूप है उस जानन को ही भोगता हूँ । भोगना और परिणमना जुदी-जुदी बातें नहीं हैं । करना और परिणमना जुदी-जुदी बातें नहीं हैं, और इस दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ में चाहे वह चेतन हो अथवा अचेतन हो, सभी करते हैं, सभी भोगते हैं । किसे? अपनी अवस्था को । सभी पदार्थ अपनी अवस्था को करते हैं और अपनी अवस्था को अनुभवते हैं, किन्तु अचेतन पदार्थों में चेतन गुण नहीं है इस कारण उनमें अनुभवने की बात कहीं देर में बैठती है । अरे अनुभवन उनका उनके ही रूप है, अचेतन रूप से ही है । हाँ यह आत्मा चेतन है, यह शीघ्र समझ में आता है, क्योंकि यह चेतन के रूप से अनुभवता है ना? वे अपनी सत्ता परिणमन रूप से अनुभवते हैं, ज्ञान के सिवाय अन्य किसी को मैं अनुभवता नहीं । मैं जब कभी भी जो कुछ भी भोगता हूँ एक अपने जानन को भोगता हूँ । यह जीव जब किसी विषय को भी भोग रहा है तब भी वह विषयभूत पुद्गल को नहीं भोग रहा है, किन्तु विषयभूत पुद्गल के भोगों में, उनके सम्पर्क में जो कल्पनाएँ बनायी, जो ज्ञान बनाया उस ज्ञान को ही भोग रहा हैं अशुद्ध वृत्ति को भोग रहा है । तो एक दृष्टि से अज्ञानी भी जब अन्य को नहीं भोग पाते तो ज्ञानी यहाँ परभाव को भी भोगने की बात अपने चित्त में न लगाकर केवल शुद्ध ज्ञान वृत्ति को भोगने की वृत्ति कर रहा है । ज्ञानी पुरुष ज्ञान को ही भोगता हुआ इस प्रकार का प्रत्यय रखता है । अज्ञानी जन परतत्त्व के भोगने का प्रत्यय रखते हैं, यही कर्मफलचेतना है ।

ज्ञानचेतना व त्रिविध चेतनाओं का प्रकृत उपसंहार—कोई-कोई जीव इतने सामर्थ्यहीन होते हैं कि वे भोगने का विकल्प भी अपने में स्पष्ट नहीं पाते हैं और भोगते जाते हैं । वे हैं स्थावर जीव । समयसार की उस पद्धति से इन तीन चेतनावों का विभाग कई प्रकार से होता है । ज्ञानचेतना किसके है? ज्ञानचेतना अप्रमत्त गुणस्थान से है । कर्मचेतना और कर्मफलचेतना पहिले गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक है । फिर दूसरी दृष्टि जगती है कि जो श्रद्धा में और प्रतीति में है, वास्तविकता तो उसकी है, मूल्यांकन तो वहाँ से है । लो अब है ज्ञानचेतना किसके? सम्यग्दृष्टि के, और कर्मचेतना कर्मफलचेतना, जो सम्यग्दृष्टि नहीं हैं उनके । इस प्रकरण में जिस प्रकार भूमिका आकर वर्णन किया हैं उसमें यह बताया है कि कर्मफलचेतना है एकेन्द्रिय जीवों के, और कर्मचेतना किसके है? दो इन्द्रिय जीवों से लेकर जब तक केवलज्ञान न हो तब तक । जब यह कर्म और कर्मफल को चेतता रहता है, और इस करणानुयोग की दृष्टि से ऐसा कुछ साफ जंचता भी है कि यह कर्म अपने उदय से तब तक कुछ न कुछ कर रहे हैं, केवलज्ञान होने के बाद फिर न कोई उपद्रव है और न किसी प्रकार की बाधा है । वह प्रभु है और वह अब स्पष्टरूप से ज्ञान को ही चेतता रहता है । ये स्थावर जीव कर्मफल का चेतन करते हैं ।

कर्मचेतना के प्रधान अधिकारी—त्रस जीव ये भी यद्यपि मोह से मलीमस हैं और ज्ञानबुद्धि सामर्थ्य भी रुकी हुई है, फिर भी कुछ वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम पाया है जिससे कार्यकारण सामर्थ्य प्रकट होता है । वह किसी बात के कारण बन जायें, किसी के कार्य बन जाये, कुछ पहिचान कर सकें ऐसे कर्म की सामर्थ्य प्रकट होती है । वे जीव कर्मफल चेतना से मुक्त नहीं हैं, वह तो चल ही रही हैं । सुख दु:खरूप जो कर्मफल है उसका अनुभवन उनमें चल रहा है, पर साथ ही वे कर्मों को प्रधानरूप से चेत रहे हैं । त्रस जीवों में कर्मचेतना की प्रधानता बतायी है, क्योंकि उनमें वीर्यान्तराय का क्षयोपशम होने से कार्यकारण में सामर्थ्य प्रकट हुई है । चेतक स्वभाव के कारण जो भी उनमें सामर्थ्य प्रकट हुई है उसके अनुरूप ईहापूर्वक, विचारपूर्वक संज्ञपूर्वक, इष्ट अनिष्ट विकल्परूप कार्यों को करते हैं ।

ज्ञानचेतना के स्वामी—तृतीय प्रकार के जीव जो ज्ञानचेतना से ज्ञान को ही चेतते रहते है वे हैं केवलज्ञानी जीव। जिन्होंने समस्त मोह कलंक को धो डाला है और ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदिक समस्त कर्मों का समुच्छेद कर दिया है । इस ज्ञान चेतना में भी प्रधानता सिद्ध जीवों की रखी है । अब आत्मा की जितनी भी शक्तियाँ हैं समस्त शक्तियाँ अत्यन्त विकसित हो गयी हैं । वीर्यान्तराय कर्म का क्षय हो

चुका है, उनके अनन्तवीर्य प्रकट हुआ है । इस कथन में ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म इनके क्षय पर प्रधानतया दृष्टि दी है । इससे अरहंत भगवान के भी ज्ञानचेतना सिद्ध की तरह मानी गयी है । अब कर्मफल समस्त उनके समाप्त हो गये, कर्म भी समाप्त हो गये, अत्यन्त कृतकृत्य हो गये ।

सकलपरमात्मा की निर्वाञ्छ क्रिया—सकलपरमात्मा की क्रिया जब तक वे अरहंतभगवान् हैं, शरीरसहित हैं, जो हो रही है वह कैसी क्रिया हो रही है? विचार नहीं, विचारों का चलना नहीं, इच्छा नहीं, क्या है, अब तो उनका शरीर बड़ा सुहावना, स्वच्छ, निर्मल है, एक खिलौने का सा पुतला है । जैसे ये मेघ क्या विचार कर चलते हैं कि मैं इस देश में जाऊँ और वहाँ पानी बरसाऊ? अरे जहाँ की जनता का भाग्य है वह भी एक कारण है और यहाँ वायु का सम्पर्क संयोग है वह भी एक कारण है । बादल पहुंचते हैं और बरसते हैं । ऐसे ही यह प्रभु का शरीर, यह परमात्मा का परमौदारिक शरीर क्या यह जानकर चलता है कि मैं किस ओर जाऊं, मैं म्लेच्छ देश में ही जाऊँ, वहाँ के लोग बड़े धर्मात्मा हैं । वहाँ पहुंचेंगे, क्या उनकी ऐसी इच्छा है? नहीं है । फिर भी जहाँ के जीवों का प्रबल भाग्य है उस ओर उनका विहार होता है । जीवों का प्रबल भाग्य है विशेष कारण, और उनमें अघातिया कर्म तो रह ही रहे हैं, उनका उदय चलता है, बस ऐसे ही कारण कलाप मिलकर उस विषय के कारण बन जाते हैं । उनमें इच्छा नहीं, रागद्वेष नहीं, फिर भी यह गमन हो रहा है ।

कृतकृत्यता व उपादेयता—केवलज्ञानी जीव अत्यन्त कृतकृत्य हैं, उन्हें बाहर में कहीं करने योग्य कुछ नही है । अन्तरङ्ग में करने योग्य है ज्ञान, उस ज्ञान को ही वे करते रहते हैं । उस ही ज्ञानरूप वे परिणमते रहते हैं और ज्ञानरूप को ही अनुभवते रहते हैं । वे अत्यन्त कृतकृत्य हैं । वे अपने से अभिन्न स्वाभाविक आत्मीय सुख को और ज्ञान को ही चेतते हैं । ये प्रभु ज्ञानचेतना संयुक्त है । इस प्रकार ये जीव कोई तो ज्ञानचेतना को ही चेतते हैं और कोई कर्म कर्मफल रूप से चेतते हैं और कोई केवल कर्मफल को ही चेतते हैं । यह भेद पड़ गया है । एक स्वरूप, एक स्वभाव, एक लक्षण के भी होकर इन जीवों में उपाधिवश से ये नाना भेद पड़ गये हैं । इस प्रकरण से हमें यह शिक्षा लेना है कि हम इन बाहरी भेद परिस्थितियों को न चेतकर अपने अन्त: शाश्वत विराजमान इस ज्ञानस्वभाव को ही चेतें । इसका आलम्बन ही एक बहुत बड़ा सहारा है । यह सारी दुनिया, यह मोहक जगत सारा धोखा है, इस जीव की बरबादी का कारण है । मैं-मैं, मेरा-मेरा—इन ही विकल्पों में रहकर अपने आपका घात करते चले जा रहे हैं । अब सुयोग पाया, अच्छी बुद्धि पायी, सामर्थ्य मिला तो इसका सदुपयोग करें । इनको व्यर्थ न गमा दें और अपने ज्ञानस्वभाव को बारबार चेतते रहने का यत्न करें ।

गाथा ३९

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं ।
पाणित्तमदिक्कतां णाणं विंदंति ते जीवा ।।३९।।

त्रिविध चेतनाओं की प्रभुता—पूर्व गाथा में यह बताया था कि चेतना तीन प्रकार की होती है—कर्मफलचेतना, कर्मचेतना और ज्ञानचेतना । यह जीव चेतकस्वभावी होने से इन चेतनावों में से किसी न किसी को चेतता ही रहता है । अब जीव किस चेतना को चेतता है, इसका वर्णन इस गाथा में किया जा रहा है । स्थावर काय जितने हैं वे सभी कर्मफल को चेतते हैं । चेतना कहो, अनुभव कहो, प्राप्त करना, वेदन करना—ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं । केवल कर्मफल चेतते हैं, इसका अर्थ है कि स्थावर जीव अव्यक्त सुख दुःख को अनुभवनरूप शुभ अशुभ कर्मफल को चेतते है । और त्रस कर्मचेतना सहित कर्मफल चेतना को चेतते हैं, अर्थात् त्रस जीवों में दोनों ही चेतनाओं की करीब-करीब प्रधानता है और उनमें भी कर्मचेतना की प्रधानता है । इन्हें कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से चेतने का कार्य क्यों करना पड़ा? उन्होंने निर्विकल्प परम आनन्दस्वभाव वाले आत्मतत्त्व का अनुभवन नहीं किया । जो ज्ञानमात्र अपने आपको अनुभव नहीं करते वे रागद्वेष से मलीमस बनकर कुछ न कुछ परभावों में पर तत्त्वों में इसे मैं

करता हूँ, इसे मैं भोगता हूँ—इस प्रकार का अनुभवन किया करते हैं । ज्ञानचेतना से कौनसा जीव अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव करता है? जिनके अब द्रव्य प्राण ही नहीं रहे, प्राणित्व से अतिक्रान्त हो गये वे प्रभु ज्ञानचेतना से चेतते हैं ।

त्रिविध चेतनाओं के अधिकारियों का विवरण—प्राण दस प्रकार के कहे गये हैं—५ इन्द्रिय, तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु । जिसमें केवल चार ही प्राण पाये जाते हैं—स्पर्शनइन्द्रिय, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु वे स्थावर जीव हैं । स्थावर जीवों में विग्रहगति में अपर्याप्त में तो ३ प्राण होते हैं, श्वासोच्छ्वास नहीं होता और पर्याप्त अवस्था में चार प्राण होते हैं । इन चार प्राणों तक के धारी कर्मफलचेतना तक को ही भोगते है । और चार प्राण से अधिक के व दसों प्राणों के धारी कर्मचेतना, कर्मफलचेतना को भोगते हैं और जो इन दसों प्रकार के प्राणों से अतिक्रान्त हो गये हैं वे जीव सिद्ध हैं, वे केवल ज्ञान का ही अनुभव करते हैं । उन्हें केवल शुद्ध निज स्वरूपमात्र आत्मतत्त्व की अनुभूति हुई है, इसकी भावना जो करता है उससे ऐसे शुद्ध आत्मा की अनुभूति होती है और परम आनन्दमय एक सुधारस का स्वाद उन्हें प्राप्त होता है । ये सिद्ध जीव केवल अपने ज्ञान को अनुभवते हैं ।

अनुभाव्य तत्त्व—भैया ! कोई भी जीव अपने को अनुभवे बिना रहता नहीं है, कोई अपने को कुछ मानता है, कोई कुछ मानता है, पर सबको अपने बारे में कुछ न कुछ प्रतीति बनी हुई है । अब विवेक यहाँ करना है कि हम अपने आपकी क्या प्रतीति करें जिससे आनन्द प्राप्त हो, और कैसी प्रतीति हम करते हैं जिससे क्लेशों की प्राप्ति होती है, अपने को शुद्ध एक ज्ञानप्रकाशमात्र विकाररहित अनुभव करो । उपाधि का निमित्त पाकर हममें विकार हो जाते हैं । कैसे हो जाते हैं? क्या बतावें? निमित्तनैमित्तिक योग है । आग का निमित्त पाकर पानी गर्म हो जाता है । कैसे गर्म हुआ, कहां से हुआ? क्या बतावें? साक्षात् अनुभव कर लो । ठंडा पानी रक्खे, थोड़ी देर बाद देख लो गर्म । अब कैसे वहां गर्म रूप परिणमन हुआ, यह उसकी बात है । मुझ में रागद्वेष विकार कैसे आ गए? क्या बताएँ, हमारे स्वरूप में तो विकार है नहीं, पर अवस्था में विकार चल ही रहा है । हम अपने स्वरूप की खबर नहीं रखते, सो यह उपयोग हमारे अपने ज्ञानस्वरूप के सिवाय अन्यत्र चल रहा है, दौड़ रहा है, हमारी परमुखी दृष्टि हो रही है हम स्वमुखी दृष्टि में नहीं हैं, तब यह विकारों की चाल चला करती है । अपने में निर्विकार स्वभाव का आश्रय करें तो अवस्था में भी निर्विकारता प्रकट होती है । इस प्रकरण में जो दूसरा अन्तराधिकार चेतयिता का था उसके सम्बंध में दो गाथावों में वर्णन किया है । अब तीसरा अंतराधिकार उपयोग का है, उस उपयोग का वर्णन इस गाथा में अब किया जा रहा है ।

गाथा ४०

उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो ।
जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणीहि ।।४०।।

उपयोग का वर्णन—आत्मा के चैतन्यस्वभाव का अनुविधान करने वाले अर्थात् अन्वयरूप से परिणमने वाले जो व्यक्तरूप हैं उनका नाम उपयोग है । ज्ञान और दर्शनशक्ति का उपयोग क्या है? जैसे लोकव्यवहार में भी कहते हैं—अमुक बात का उपयोग क्या है, अमुक चीज का उपयोग क्या है? चैतन्यशक्ति का उपयोग है जानन और देखन । हम कानों से जानते हैं और आंखों से जानते हैं । सभी इन्द्रियों से हम जानते हैं । ये निमित्त हैं, जाननहार आत्मा इनसे जुदा है, पर ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है ।

हम आँखों से देखा नहीं करते, लेकिन ऐसा बोलने लगे हैं, क्योंकि जरा स्पष्ट जानन हो रहा है ना, इसलिए आंखों से देखना कह देते हैं, और यह शब्द भी प्रचलित हो गया है । यदि यह बताया जाय कि भाई आंखों से हम जाना करते हैं, देखा नहीं करते । आंखों से कभी देख ही नहीं सकते तो गलत-सा लगता है कि क्या कहा जा रहा है? हम आँखों से ही तो सब कुछ देख रहे हैं । जानना होता है

सविकल्प और देखना होता है निर्विकल्प । आँखों से आपने क्या देखा? उसका आप आकार बता दें, रंग बता दें, तो इतने विकल्पों का जहाँ प्रतिभास होता है वह तो जानना है । देखने में यह नहीं कह सकते कि मैंने किसको देखा? देखना होता है निर्विकल्प, जानना होता है सविकल्प ।

इन्द्रियज ज्ञानों से पहले दर्शन की उद्भूति—भैया ! आँखों से जानने से पहिले देखना होता है, और ऐसा देखना सभी इन्द्रियों के जानन से पहिले होता है । कानों से कुछ जाना, उससे पहिले देखना होता है । आँखों से देखने की बात नहीं कह रहे हैं, कानों के जानने से भी पहिले दर्शन हुआ, सभी इन्द्रियों से जानने से पहिले दर्शन हुआ । हमारा ज्ञान कमजोर है और उस ज्ञान का काम करने के लिए दर्शन से बल लेते हैं । ज्ञान बाह्य पदार्थों को जान रहा है । तो एक पदार्थ को जानने के बाद उसका जानना छोड़कर जब हम किसी दूसरे पदार्थ को जानने के लिए उद्यम करते हैं तो इस बीच में हमें अपने अन्तरङ्ग में दर्शन होते हैं । और उस दर्शन से बल ग्रहण करके हम फिर दूसरी चीज को जानने में सफल हो जाते हैं । तब ज्ञान हुआ सब जगह यों बाहर, और दर्शन हुआ अपने आपके अन्तरङ्ग में । अपने भीतर झुककर प्रतिभास का बल लेकर फिर बाहर में हम जाना करते हैं।

दृष्टान्तपूर्वक मतिज्ञान दर्शनपूर्वत्व का समर्थन—जैसे कोई कूदने वाला लड़का, जम्प का जैसे खेल होता है—एक रस्सी तीन चार फिट ऊँची दो बांसों में बाँध दी जाती है, अब जब वह लड़का उस रस्सी को लांघने के लिए तैयार होता है तो वह जितना जमीन की ओर झुकेगा उतनी ही वह ऊँची कूद कर सकता हैं । और इसी काम में देख लेना कि जिस जगह से उचककर उसने रस्सी कूदी है उस जगह गड्ढा सा बन जाता है । तो उसमें ऊँची कूद करने की शक्ति तब बढ़ी जब कि वह नीचे को झुका । ऐसे ही जब हम अपनी ओर झुक लेते हैं तब हम बाहर की चीजों को जानने में सफल होते हैं । ऐसा काम हम रात-दिन कर रहे हैं । और घंटे भर में हजारों बार काम कर डालते हैं । क्या? कि अपनी ओर झुकना, फिर बाहरी चीजों को जानना । लेकिन इसका भान नहीं कर पाते कि लो हम झुक गए अपनी ओर । इतना भान कर ले तो उसे सम्यक्त्व हो जाय । काम बराबर कर रहे हैं, पर भान नहीं कर पाते । हम जो हैं सो ही तो हैं । हम भूल भटक गए, पर हम तो वही हैं । इस जीव ने अपनी भूल से उपयोग में रमकर उपयोग में ही हित मानकर अपनी बरबादी कर डाली है, निर्विकार हुए हैं तो निर्विकार स्वरूप का आदर भी तो करें । आदर तो किया जा रहा है विकारों का । वहाँ निर्विकारता अर्थात् आत्मविकास कैसे प्रकट हो?

हमारा शरण—हमारा सहाय हम ही में बसा हुआ सहज ज्ञानस्वभाव का आलम्बन है । बाहर में सब जगह धोखा है । पराधीनता, दु:खरूपता, भटकन सभी विपत्तियाँ बाहरी हैं । जो हम चाहते हैं, जो हमें अत्यन्त अभीष्ट हैं, जिनमें हमारा पूर्णतया कल्याण है, पूर्ण निराकुलता है वे सब बातें मेरे में बसी हुई हैं । किसी की पगड़ी में लाल बंधा और उसे भूल गया तो वह घास बेचकर लकड़ी बेचकर अपना जीवन गुजारता है । जिसे अपने घर में गड़ी हुई निधि का पता नहीं है वह गरीबी के दिन गुजारता है, ऐसे ही अपने आप में जो परमस्वभाव है, चित्स्वभाव ज्ञानमात्र सर्वोत्कृष्ट वैभव है उसका पता नहीं है तो बाहर में यत्र तत्र भटक-भटककर अपने आपको बरबाद किए जा रहे हैं । अपनी सुध लेना, अपना उपयोग करनी यह ही मात्र एक अपना कर्तव्य है ।

सविकल्प निर्विकल्प उपयोग का उपसंहार—उपयोग दो प्रकार के होते है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग । ये ज्ञान और दर्शन सदाकाल जीव से अभिन्न हैं । जो विशेष को ग्रहण करे वह ज्ञान है और जो सामान्य को ग्रहण करे वह दर्शन है । ये जुदी चीज नहीं हैं । जीव और उपयोग ये एक ही अस्तित्त्व में हैं, भिन्न-भिन्न द्रव्य नहीं हैं । अब इन ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग में से ज्ञानोपयोग के विशेष को बतला रहे हैं ।

गाथा ४१

आभिणसुदोधिमणकेवलाणि णाणाणि पंचभेयाणि।
कुमदि सुदविभंगाणि य तिण्णिवि णाणेहिं संजुत्तो ।।४१।।

ज्ञानोपयोग के भेद—ज्ञान ५ प्रकार के होते हैं—आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान । इन ५ प्रकार के ज्ञानों में से आदि के तीन ज्ञान मिथ्यात्व के सम्पर्क से विपरीत भी होते हैं—अर्थात् कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधिज्ञान । यों ज्ञानमार्गणा के भेद ८ होते हैं । जैसे अन्य मार्गणावों में एक भेद रहित का रहता है ऐसा ज्ञान में नहीं है । जैसे अन्य मार्गणावों में गतिरहित है ऐसे ही ज्ञानमार्गणा में ज्ञानरहित है क्या? नहीं है । ज्ञानरहित कोई जीव ही नहीं होता है । यों ८ प्रकार के ज्ञानोपयोग कहे हैं ।

आभिनिबोधिक ज्ञान—ज्ञान के इन भेदों में प्रथम नाम है आभिनिबोधिक ज्ञान । जिसे लोग मतिज्ञान कह देते हैं । इसका बहुत स्पष्ट और सही नाम है आभिनिबोधिक ज्ञान । इस आभिनिबोधिक ज्ञान के अनेक भेद हैं । मतिज्ञान, स्मृतिज्ञान, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान । यदि इस प्रथम ज्ञान का नाम मतिज्ञान रखते हैं तो यों कहना पड़ेगा कि इस मतिज्ञान के मति, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान ये उसके प्रभेद हैं, अनर्थान्तर हैं । आभिनिबोधिक का अर्थ है अभिमुख और नियत पदार्थ को जाने सो आभिनिबोधिक है । शुरू में जो दो उपसर्ग लगे हैं अभि और नि, उसका अर्थ है अभिमुख और नियत अर्थ को जाने सो आभिनिबोधिक है । यह लक्षण मति, स्मृति, तर्क, अनुमान, चिन्ता इन सबमें घटित हो जाता है । मतिज्ञान तो नाम है सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष का । ऐसे स्पष्ट वर्तमान के बोध को मतिज्ञान कहते हैं जो प्रत्यक्ष के रूप में प्रसिद्ध है । वाह हमने प्रत्यक्ष सुना, हमने प्रत्यक्ष देखा, हमने खाकर प्रत्यक्ष जान लिया, पर इन्द्रियों से जानने को कहीं प्रत्यक्ष भी कहा करते हैं । प्रत्यक्ष नाम तो है इन्द्रियों की सहायता के बिना, केवल आत्मा के ही सहारे ज्ञान करने का ।

श्रुतज्ञान—श्रुतज्ञान का सीधा अर्थ तो सुना हुआ है, पर सुना हुआ तो आभिनिबोधक ज्ञान है । आभिनिबोधक ज्ञान से जानते हुए पदार्थ में कुछ और विशेष जानना सो श्रुतज्ञान है । यहाँ श्रुत उपलक्षण है, दृष्ट स्पृष्ट आदि सब मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है । यह अपने ही ज्ञान करने की प्रणाली की बातचीत चल रही है । हमने आँखों से जाना, और जिस समय हमने यह सोचा कि यह नीला है, बस यह श्रुतज्ञान हो गया । तो मतिज्ञान कहा, तक रहा? इसे हम नहीं बता सकते, क्योंकि मतिज्ञान निर्विकल्प ज्ञान है । इन ५ ज्ञानों में से मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, केवलज्ञान ये चार ज्ञान निर्विकल्प हैं और श्रुतज्ञान सविकल्प है । ग्रन्थ में आता है कि साधु महाराज ने अवधिज्ञान से जानकर बताया, पर अवधिज्ञान से जानना तो होता है, बताने का काम नहीं हो सकता । जैसे मतिज्ञान से जानकर फिर श्रुतज्ञान से व्यवस्थायें बताते हैं यह नीला है, यह खट्टा है, ऐसे ही अवधिज्ञान से जानकर फिर श्रुतज्ञान से व्यवस्था बनायी जाती है ।

ज्ञानस्वरूप की भावना—हम यों इन्द्रिय के सहारे वर्तमान में ज्ञान किया करते हैं, किन्तु स्वभाव ऐसा नहीं है । मैं केवलज्ञान पिंड हूँ । जैसे मिश्री का डला सर्वत्र मीठे रस से भरा हुआ है आगे, पीछे, भीतर, ऐसे ही मेरा आत्मा सर्वत्र ज्ञानरस से ही भरा हुआ है । इसमें अन्तर किसी प्रदेश में भी नहीं है। अपने आपको मैं केवल ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञानस्वरूप की ही बारंबार भावना करें, इसमें ही कल्याण है । जहाँ यह प्रतीति लिए बैठे हैं कि मैं अमुक प्रसाद, अमुक चंद, अमुक लाल हूँ, इतने बच्चों का पिता हूँ, मैं अमुक व्यापारी हूँ, अमुक काम करने वाला हूँ, ऐसी प्रतीतियां तो केवल क्लेश ही पैदा करने वाली हैं । ये जब होती हैं, इन्हें जानो, पर प्रतीति मूल में यह रखिये कि मैं तो सबसे न्यारा केवल ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ । ऐसी ही प्रतीति हमारी शांति के मोक्ष के मार्ग में प्रधान शरण है, अन्य कुछ हमारे लिए शरण नहीं है । यों यथार्थ जानकर अपने को अपने ज्ञानस्वरूप की ओर ही उन्मुख कीजिए ।

अखण्ड ज्ञानात्मकता—यह आत्मा अनंत सर्व आत्मप्रदेशों में व्यापक विशुद्ध ज्ञान सामान्यात्मक है, अर्थात् अपने प्रदेशों में सर्व में व्यापने वाला विशुद्ध ज्ञानस्वभावरूप है । यद्यपि जीव का विस्तार प्रदेश की अपेक्षा असंख्यात प्रदेशों में है । जैसे मनुष्य शरीर पाया तो जितना मनुष्य शरीर का विस्तार है उतने में इस जीव का विस्तार है । किन्तु इतने बड़े विस्तार में ज्ञान सर्वत्र वही का वही एक है । जिस एक प्रदेश में जो ज्ञानस्वभाव और ज्ञानपरिणति है वही स्वभाव वही परिणति अन्य सब प्रदेशों में है । यहाँ सदृशता की भी बात नहीं है कि जैसा ज्ञान पहिले प्रदेश में है वैसा ही ज्ञान अन्य प्रदेश में है, किन्तु वही ज्ञान अन्य प्रदेश में है । यह आत्मा ज्ञानपुंज है। वह ज्ञान अखण्ड है, तदात्मक यह आत्मा उतने विस्तार को लिए हुए है जितने विस्तार से आधार रूप से ज्ञानपुंज को लिए रहा है।

ज्ञान का आवरण—वह आत्मा अनादिकाल से ज्ञानावरण कर्मों से ढका हुआ है और इस आवरण के कारण आत्मा की महती ज्ञानशक्ति अवकुन्ठित है । कहीं जैसे मेघ से सूर्य ढक गया है इस तरह केवलज्ञानावरण से केवलज्ञान ढक गया है, ऐसा नहीं है । वहाँ तो सूर्य पूरा का पूरा व्यक्त मौजूद है । और उस व्यक्त सूर्य पर यह मेघपटल पड़ा हुआ है । ऐसा यहाँ नहीं है कि केवलज्ञान व्यक्त पूर्ण प्रकट बना हुआ है और उसको केवलज्ञानावरण कर्म ने ढक दिया है । यदि केवलज्ञान व्यक्त प्रकट पड़ा है तो उसको ढकने की सामर्थ्य किसी भी द्रव्य में नहीं है । किन्तु होता क्या है? ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि केवलज्ञानावरण के उदय का निमित्त पाकर यह आत्मशक्ति व्यक्त प्रकट नहीं हो पाती है । प्रकाश की अवरुद्धता के लिये सूर्य मेघ का दृष्टान्त है । जिसके उदय से केवलज्ञान प्रकट न हो सके उसका ही नाम केवलज्ञानावरण हैं ।

आभिनिबोधिक ज्ञान की उद्भूति—केवल ज्ञानावरण के उदय होते हुए भी उस-उस ज्ञानावरण के क्षयोपशम से और इन्द्रिय मन के आलम्बन से यह जीव मूर्तिक द्रव्य को और अमूर्तिक द्रव्य को एकदेश विशेष रूप से जानता है, यही आभिनिबोधिक ज्ञान है । इन्द्रिय का विषय मूर्त पदार्थ ही है और मन का विषय मूर्त पदार्थ भी है और अमूर्त पदार्थ भी है, किन्तु ये सब एकदेश जान पाते हैं, सर्वदेश नहीं जान पाते हैं । जो अभिमुख पड़ा हो उसे ही जान पाते हैं और उसे भी नियत । स्पर्शन इन्द्रिय से स्पर्श ही जान पायगा, रसना इन्द्रिय से रस जानेगा । इन्द्रिय का जो-जो विषय है उन इन्द्रियों से वह-वह जाना जाता है । इस प्रकार का एक संकुचित आभिनिबोधिक ज्ञान हम आप सभी जीवों के है । मिथ्यादृष्टि जीवों के यह कुमतिज्ञान कहलाता है और सम्यग्दृष्टि जीवों के यह सुमतिज्ञान कहलाता है ।

श्रुतज्ञान की परिस्थिति—अब श्रुतज्ञान को सुनिये—श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है । मतिज्ञान से जो जाना मूर्त अथवा अमूर्त पदार्थ को उसको एकदेश विशेषरूप से जाना जाय तो उसका नाम श्रुतज्ञान है । हमने जो शब्द बोले वे शब्द आपके कर्णइन्द्रिय से ज्ञात हुए । वह तो मतिज्ञान है, पर जहाँ आपने यह समझा कि यह कहा है वह श्रुतज्ञान हो गया । शब्द का वाच्य आपकी दृष्टि में आ जाय तो वह श्रुतज्ञान हो गया । मतिज्ञान तब तक रहता है, कब तक? जब तक कि निर्विकल्पता रहती है । आपने कुछ विकल्प न किया, क्या कहा और सुनने में आ गया, मतिज्ञान से विकल्प कोई रहता नहीं है वह कर्णेन्द्रियज मतिज्ञान है । यदि मतिज्ञान का ही अनुभव रह जाय तो वह भी बड़े भले की चीज रहे । उसका अनुभव न करके झट यह जीव श्रुतज्ञान पर पहुंच जाता है । आत्मानुभव की स्थिति में ज्ञान का भी प्रसार समझिये । श्रुतज्ञान तो विकल्पात्मक है और ज्ञानानुभूति एक निर्विकल्प स्थिति है । हाँ यह बात अवश्य है कि उपकार श्रुतज्ञान का है । ज्ञानानुभूति पाने के लिए श्रुतज्ञान का पहिले बड़ा भारी सहारा उसे मिला था, और अब यह निर्विकल्प स्थिति में है ।

आत्मानुभूति की आत्माश्रयता—भैया ! वास्तविकता तो यह है कि अनुभूति की दशा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदिक किसी रूप में नहीं है । लेकिन इन ५ ज्ञानों को छोड़कर छठी स्थिति और क्या होती है? अत: इस ज्ञानानुभूति से पहिले जैसा ज्ञान का दौड़ दौड़ा था, पुरुषार्थ था, वही ज्ञान ज्ञानानुभूति में कहा जाता है

। मतिज्ञान तो वह है जो इन्द्रिय और मन से उत्पन्न हो, पर ज्ञानानुभूति, आत्मानुभव क्या इन्द्रिय से उत्पन्न होता है ? नहीं । क्या मन से उत्पन्न होता है? नहीं । वहीं अनुभव का और मानसिक ज्ञान का कितना विलक्षण मिलाप हो रहा है, संधि हो रही है, जुहार भेंट हो रही है कि यह मन उस आत्मानुभव वाले ज्ञान के निकट पहुंचकर, उस ज्ञान में लीन होकर अपने आपके महत्त्व को खो देता है, वह भी उसमें विलीन हो जाता है । श्रुतज्ञान तो सविकल्प है और जिस जिसकी आपको खबर है, कल्पना है, विचार है वह सब श्रुतज्ञान है । भोजन किया, जीभ पर भोजन रखा, इसका ज्ञान हुआ, पर जैसे ही आपने यह मन में बात बनायी कि यह खट्टा है, वह श्रुतज्ञान हो गया, मतिज्ञान नहीं रहा । जितने
विकल्प हैं, विचार हैं वे सब श्रुतज्ञानरूप हैं ।

अवधिज्ञान व अवधिज्ञान नाम होने का कारण—अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से विकल रूप से थोड़ा-थोड़ा मूर्त द्रव्य को विशेषरूप से जो जाना उसे अवधिज्ञान कहते हैं । इसका नाम अवधिज्ञान क्यों रक्खा, इसके कई कारण हैं । अवधिज्ञान ने तो स्वरूप जाना ना? इन्द्रिय और मन की सत्ता के बिना रूपी पदार्थ एकदेश स्पष्ट जाना जाय आत्मशक्ति से उसे अवधिज्ञान कहते हैं । अवधिज्ञान नाम रखने का एक कारण तो यह है कि इस ज्ञान का प्रसार नीची दिशा में अधिक होता है और ऊर्ध्वदशा में कम होता है अर्थात् अवधिज्ञानी जीव जानते हैं ना सब जगह की बात, पर नीचे की बात अधिक दूर तक की जानते हैं । उतनी दूर तक ऊपर की बात नहीं जानते । देवतावों को अवधिज्ञान होता है तो वे नीचे की बात तो नरकों तक की जानेंगे और ऊपर की बात अपनी-अपनी सीमावों तक जानेंगे । उसका नाम अवधिज्ञान है ।

अवधिज्ञान नाम होने का द्वितीय कारण—अवधिज्ञान नाम पड़ने का दूसरा कारण यह है कि अवधिज्ञानी जीव अवधि सहित जानते हैं, इसमें मर्यादा लगी हुई है, और यह अवधिज्ञान पाँच ज्ञानों के क्रम में जहाँ रखा हुआ है यह सूचित करता है कि इसमें पहिले के ज्ञान और यह ज्ञान सब मर्यादा सहित हैं और इसके बाद का जो ज्ञान है वह असीम है । एक शंका यहाँ यह की जा सकती है कि अवधिज्ञान के बाद तो मन:पर्ययज्ञान लिखा है, और मन:पर्ययज्ञान की सीमा है, वह असीम नहीं जानता । तो इसके समाधान से यह जानो कि इस पद्धति से तो ज्ञानों का क्रम यही है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, अवधिज्ञान और केवलज्ञान । यदि इस नम्बर से आप बोले, सोचें और न्याय प्राप्त नम्बर यही ठीक है भी और सिद्धान्त में इस प्रकार की शंका करके यह दृष्टि भी बतायी गयी है । अब तो ठीक बैठा ना कि अवधिज्ञान और इससे पहिले के ज्ञान सब मर्यादा सहित हैं, लेकिन इसके बाद का ज्ञान मर्यादारहित है । ठीक है ना? सुधार लिया, समझ लिया? लेकिन चूंकि मनःपर्ययज्ञान संयमी जीवों के ही होता है, असंयमियों के नहीं, साधु पुरुषों के ही होता है, इस कारण मन:पर्ययज्ञान की पूज्यता के कारण इसे केवलज्ञान के निकट अब रख दीजिए । तब यह नम्बर बन गया मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ।

अवधिज्ञान से ज्ञात पदार्थ का श्रुतज्ञान से व्याख्यान—यह जीव अवधिज्ञान से तो रूपीद्रव्यों को प्रतिभास लेता है कि क्या है और उसका जब वर्णन करते हैं तब चूंकि इस ही आत्मा ने अवधिज्ञान को जाना ना, तो उस जाने हुए का यह मन स्मरण रखता है और श्रुतज्ञान के उपयोग से फिर दूसरे लोगों को इसका व्याख्यान करते हैं । जैसे थोड़ा बहुत ऐसा अंदाज कर लीजिए, स्वप्न में आप जो कुछ देखते हैं वह दुनिया तो आपकी निराली है ना और जगने के बाद जैसी स्थिति आपकी बनती है वह दुनिया स्वप्न से निराली है, लेकिन स्वप्न में देखी हुई
चीज जगने के बाद भी स्मरण में रहती है और आप उसका व्याख्यान करते हैं, दूसरों को बतलाते हैं । यह एक थोड़ा अंदाज के लिए दृष्टान्त कहा है । कोई पूर्णरूप में कुछ बात नहीं घटती, केवल इतनी बात

इस दृष्टान्त में समझ लीजिए कि जैसे किसी अन्य ढंग से स्वप्न में जानी हुई बात को जगने के बाद जहाँ हम मन चाहा विकल्प बताते हैं उस स्थिति में स्मरण करके उस बात को प्रकट करते हैं, ऐसे ही अवधिज्ञान से जो जाना वह इसकी निराली दुनिया है, निर्विकल्प स्थिति थी । अब उस जानन के बाद जब मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान का उपयोग हो तो इस सविकल्प अवस्था में स्मरण कर उसका व्याख्यान किया करते हैं ।

मन:पर्यय ज्ञानावरण—मन:पर्यय ज्ञानावरण के क्षयोपशम से दूसरे के मन में ठहरी हुई कोई मूर्तिक पदार्थ की बात एकदेश विशेष रूप से जान जाय, उसे मन:पर्ययज्ञान कहते हैं । दूसरे के मन में क्या पड़ा हुआ है उस मन के विकल्प को और मन में ठहरे हुए पदार्थ को जान जाय, यह विशेष निर्मलता से साध्य बात है । यह मन:पर्ययज्ञान संयमी साधुवों के होता है, उसमें भी सबके नहीं । एक इस प्रकार की विशिष्ट ऋद्धि महिमा अतिशय तपश्चरण हो उनके होता है । इस मन:पर्ययज्ञान के दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति । ऋजुमतिज्ञान के धारी तो उस भव से मोक्ष जाये या न जाये, कोई नियम नहीं है । वह मन:पर्ययज्ञान छूट जाय अन्य ज्ञान बन जाय, केवलज्ञान न हो यह हो सकता है । किन्तु विपुलमति मन:पर्ययज्ञान हो तो अब इसके बाद नियम से केवलज्ञान होगा और मुक्ति पायगा । ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान तो दूसरे के सरल मन की बात जानता है । सीधा-सादा विचार हो उसे जानता है, किन्तु विपुलमति मनःपर्ययज्ञान कितने ही मायाचार से कोई चिन्तन करे, उनमें आधा चिन्तन करे, आधा न करे अथवा सोचा था या आगे सोचेंगे, इन सब बातों को जान जाता है ।

आत्मनिधि की वार्ता—यहाँ आत्मा के ज्ञाननिधि का कुछ विस्तार बताया जा रहा है कि इस आत्मा में कितने चमत्कार हैं, कितनी इसकी महिमा है, जिस महिमा को न जानकर जो कुछ विषयसाधन मिला उसमें ही ऐसा विकल्प बनाया कि यह ही सब कुछ है और इन साधनों से ही हमारा बड़प्पन है, हित है, सुख है, ऐसा दुर्विकल्प बसाया, यह ज्ञान निधि दृष्टि में रहे तो ये दुर्विकल्प ठहर नहीं सकते । कुछ लोग इस बात के लिए हैरान रहते हैं कि हमारे विकल्प बड़े उठते हैं, धर्म में मन नहीं लगता, चित्त अस्थिर रहता है, ठीक है, ऐसा होगा ही । जब तक अपनी आत्मनिधि की रुचि नहीं होती है तब तक वास्तव में धीरता नहीं प्रकट हो सकती । वास्तविक धीरता और गम्भीरता इस महती आत्मनिधि के स्पर्श में ही है ।

दृष्टान्तपूर्वक धीरता व गम्भीरता का एक कारण—जैसे लोक में दिखता हैं—जो कोई विशेष बड़ा धनिक होता है उसकी चाल-ढाल कुछ गम्भीर-सी नजर आती है । चाहे उसके हृदय में गम्भीरता न हो, मगर कुछ ऐसा ही वातावरण है और वह वातावरण भी किसका? बड़प्पन की कल्पना का । अपने आप में जो यह कल्पना आ गयी है कि मैं सबसे बड़ा हूँ और साथ ही धन भी है, जिसके लौकिक वैभव न हो विशेष और अपने को बड़ा-बड़ा मानता रहे तो उसमें बाह्य में भी धीरता और गम्भीरता नजर नहीं आती । लौकिक वैभव भी हो, चाहे धन का वैभव हो, चाहे ज्ञान का वैभव हो, उस वैभव के मिलने पर जो कुछ यह प्रतीति बन गयी कि मैं महान् हूँ तो उसकी धीरता और गम्भीरता दिखने लगती है । यह एक लौकिक बात कही जा रही है, किन्तु जिस आत्मा के वास्तविक आत्मनिधि प्रकट हुई उसकी दृष्टि जगी हो, रुचि बढ़ी हो तो वह तो परमार्थ से महान है । ऐसा महत्त्व आने पर अधीरता नहीं रह सकती ।

रुचिपरिवर्तन—भैया ! कुशलक्षेम चाहता हो तो अब रुचि बदलनी होगी । क्रोधकषाय जगती है तो उसका विषय बदल दो । अब तक क्रोध दूसरे जीवों पर आया है, अब क्रोध अपनी त्रुटियों पर कर लो । मान जगता है, कषाय नहीं मिटती है तो अब इसका भान बदल दो दूसरे जीवों को निरखकर मान करने लगो । अपने चमत्कार, गुण, वास्तविक स्वरूप महत्त्व को निरखकर तो यह गौरव में शामिल हो जायगा । मायाचार करते-करते बहुत क्षण गुजर गये, आदत बन गयी । नहीं छूटती है तो इस मायाचार की प्रक्रिया बदल दो । जिन लोगों के बीच रहना पड़ता है, जिनसे बोलना पड़ता है उनसे प्रेमपूर्वक बोलकर आफत से निपट लो और भीतर में प्रेमरहित, रागद्वेष रहित इस ज्ञायकस्वभाव की उपासना में लगो ।

तृष्णा करते-करते जीवन गुजर गया, उसका रंग गहरा चढ़ गया । अब एकदम त्याग करते नहीं बनता तो थोड़ी उसकी दिशा मोड़ लो । आत्मविशुद्धि की तृष्णा करो, मेरी अब निर्विकारता और एक शुद्ध ज्ञानप्रकाश बढ़ता रहे । जैसे दूकान में सोचते हो कि अब १० हजार हुए, अब ११ हजार हुए, ऐसे ही अब अपने घर की बात सोच लो—जीव गृह की बात सोच लो । इसमें अब इतना लाभ हुआ, इतनी शुद्ध दृष्टि हुई, अब इतनी निर्मलता बनी, अब इतनी विशुद्धि बढ़ गयी है इस ओर अपनी तृष्णा लाइये। कुछ ही समय बाद ये सब कषाय के रूप भी हट जायेंगे और एक शुद्ध ज्ञानस्वभाव का अनुभव रहेगा । यह उपाय केवलज्ञान प्रकट करने का है ।

स्वाभाविक विकास—केवल ज्ञानावरण के अत्यन्त क्षय होने पर यह आत्मा केवल ही अर्थात् इन्द्रिय मन का सहारा लिए बिना मूर्त और अमूर्त समस्त पदार्थों को जो जानता है वह केवलज्ञान है । यह ज्ञान स्वाभाविक है । इसमें परापेक्षता नहीं है । यह जीव की प्रकृति है, स्वभाव है, यह आश्चर्य की बात नहीं है । वह तो स्वरूप ही है । आश्चर्य की बात तो अज्ञानदशा की है । केवलज्ञानी हो जाय, प्रभु हो जाय, शुद्ध विकास बने, लोक अलोक ज्ञान में रहे, यह कोई आश्चर्य की बात है क्या? यह तो स्वरूप ही है, स्वभाव ही है । आश्चर्य तो इस बात का होना चाहिए कि हम अज्ञान अवस्था में पड़े हैं, केवलज्ञान तो जीव का स्वाभाविक विकास है ।

मिथ्यात्व के साहचर्य से ज्ञान में विपरीतता का आख्यान—भैया ! जो ये ५ ज्ञान बताये गये हैं, मिथ्यादर्शन के उदय का सम्बन्ध हो तो यही आभिनिबोधिक ज्ञान कुमतिज्ञान कहलाने लगता है । मिथ्यादर्शन के उदय के साहचर्य से श्रुतज्ञान ही कुश्रुतज्ञान कहलाता है और मिथ्यादर्शन के उदय के सम्बन्ध से यह अवधिज्ञान ही विभङ्गज्ञान कहलाता है । इस प्रकार इस उपयोग के प्रकरण में पाँच तो सम्यग्ज्ञान और तीन मिथ्याज्ञान, यों ज्ञानोपयोग के ८ भेदों का वर्णन किया है ।

गाथा ४२

दंसणमवि चक्खुजुदं अचक्खुजुदमवि य ओहिणा सहियं ।
अणिधणमणंतविसयं केवलियं चावि पण्णत्तं ।।४२।।

दर्शनोपयोग के भेद व चक्षुर्दर्शन—दर्शनोपयोग ४ प्रकार के होते हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन । आत्मा तो अनन्त सर्व आत्मप्रदेशों में व्यापी विशुद्ध दर्शन सामान्यात्मक है । अर्थात् इन ४ प्रकार के दर्शन पर्यायों की आधारभूत जो दर्शनशक्ति चैतन्यमात्र यह आत्मा है, किन्तु यह आत्मा अनादिकाल से दर्शनावरण कर्मों के उदय के निमित्त से दर्शन के विकास से अवकुन्ठित है, आत्मविकास स्वाभाविक प्रकट नहीं हो रहा है, फिर भी जैसे चक्षुर्दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से और चक्षुरिन्द्रिय के आलम्बन से मूर्त द्रव्य विकल सामान्यरूप से प्रतिभास में आये वह चक्षुर्दर्शन है । यहाँ चक्षुइन्द्रिय के आलम्बन की बात कही है । दर्शनोपयोग इन्द्रिय का आलम्बन लेकर नहीं होता, किन्तु यह दर्शनोपयोग छद्मस्थ जीव के किसी ज्ञान के प्रकट करने के लिए हुआ करता है । तो चक्षुइन्द्रिय का आलम्बन लेकर जो ज्ञान बनेगा उसके लिए जो दर्शन होता है उसका नाम है चक्षुर्दर्शन।

अचक्षुर्दर्शन—ऐसे ही अचक्षुर्दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से चक्षु के सिवाय शेष चार इन्द्रियाँ अर्थात् स्पर्शनइन्द्रिय, रसनाइन्द्रिय, घ्राणइन्द्रिय और कर्णइन्द्रिय, इनके आलम्बन से व मन के आलम्बन से मूर्त और अमूर्त द्रव्य को सामान्य रूप से प्रतिभास ले उसे अचक्षुर्दर्शन कहते हैं । यहाँ यह बात विशेष जानने की है कि ज्ञान ५ प्रकार के नहीं होते, अनन्त प्रकार के होते हैं । जितने पदार्थ हैं उतने ही प्रकार के ज्ञान हैं । ऐसे ही दर्शन भी ये चक्षु और अचक्षु ऐसे दो प्रकार के नहीं हैं इस परोक्षज्ञानी के, किन्तु जितने प्रकार के ये परोक्षज्ञान हैं उतने ही प्रकार के दर्शन हैं । जैसे प्रकरण में दो भेद किए हैं—चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन । इनका विस्तार बताना है तो यों करिये—स्पर्शनदर्शन, रसनादर्शन, घ्राणदर्शन, चक्षुर्दर्शन, कर्णदर्शन और अनिन्द्रियदर्शन । ६ प्रकार के ज्ञानों के उत्पन्न होने के पहिले जो दर्शन होते हैं वे भी

उपचार से उतने ही प्रकार के हो गए ।

दर्शन की निर्विकल्पता—दर्शन में विकल्प नहीं होता और जो-जो विचारात्मक, विकल्पात्मक प्रतिभास जंचता है, जिसकी हम सुधबुध रखा करते हैं वह सब ज्ञान है । दर्शन के लक्षण यद्यपि कुछ विभिन्न प्रकार के भी पाये जाते हैं, किन्तु उनका लक्ष्य एक ही है । कहीं यह लक्षण कहा गया है कि पदार्थ का आकार न करके जो सामान्य ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं । कहीं लक्षण कहा है—अन्तर्मुख चित्प्रकाश को दर्शन कहते हैं । कहीं लक्षण कहा है—आत्मा के प्रतिभास को दर्शन कहते हैं । इन तीन ही लक्षणों में दर्शन का लक्ष्य देखिये । यह तो तीनों में ही सम्मत हो गया कि दर्शन निर्विकल्प होता है । जैसे इन शब्दों में कह लीजिए कि सामान्य प्रतिभास होता है।

दर्शन के लक्षणों में निर्विकल्पता का प्रकाश—सामान्य का अर्थ आत्मा है, यों रख लीजिए इस प्रकरण में, क्योंकि जब कभी भी हम सामान्य का प्रतिभास करेंगे तब हमें परपदार्थों का आकार और विकल्प ग्रहण में न आयगा । यदि आता है तो वह विशेष है । यह तो दृष्टान्त की बात है । जैसे कहते हैं मनुष्य सामान्य और ब्राह्मण आदिक मनुष्य विशेष । अरे मनुष्य सामान्य ही खुद विशेष है । वह तो दृष्टांत में अपेक्षाकृत सामान्य की बात कही गयी है । सामान्य तो वस्तुत: वह है जहाँ भावों का आकार, पदार्थों की विशेषताएँ जहाँ न प्रतिभासित हों, केवल एक सामान्य प्रतिभास मात्र हो वह है दर्शन । तो ऐसा सामान्यप्रतिभास जब होगा तो उनका आश्रय परपदार्थ तो रहा नहीं और निराश्रय कुछ है नहीं प्रतिभास का तो उसका आश्रय पारिशेष न्याय में आत्मा ही रहा । यों सामान्य का अर्थ आत्मा है, सामान्य का प्रतिभास दर्शन है । इसका अर्थ निकला कि आत्मा का प्रतिभास दर्शन है । और अन्तर्मुखी चित्प्रकाश का नाम दर्शन है । इसका ही अर्थ यह निकला कि आत्म प्रतिभास का नाम दर्शन है । अपने आपके आत्मा की ओर अभिमुख होकर जो चेतना का प्रकाश व्यक्त होता है वह दर्शन है । तो यों दर्शन के सभी लक्षणों से यह तो ज्ञात होता ही है कि इसमें आकार विकल्प विशेषताएँ प्रतिभास नहीं होती हैं, तब दर्शन-दर्शन सब एक स्वरूप जानो ।

ज्ञान और दर्शन की समानता—भैया ! यद्यपि ज्ञान की तरह विविधता दर्शन में नहीं होती, लेकिन छद्मस्थ अवस्था में जैसा ज्ञान चला वैसा दर्शन हुआ है, क्योंकि यहाँ दर्शनपूर्वक ज्ञान हुआ करता है । तो उपचार से उतने ही प्रकार के दर्शन हैं और परमात्मा के जितने पदार्थ का ज्ञान हो रहा है उस समस्त ज्ञान करने वाले आत्मा को प्रतिभास में ले तो ज्ञान में जितना आनन्त्य हैं उतना ही आनन्त्य दर्शन में है । ज्ञान जितने विस्तार में है, जितनी अनंतता को लिए हुए है उतना ही दर्शन का हुआ ।

दर्शन के उपादान की दुर्लभता—इस दर्शन को पकड़ना बहुत दुर्लभ है । दर्शन होकर भी दर्शन मुझे हुआ, इतना तक भी ख्याल नहीं आ सकता । जैसे ज्ञान होकर यह तो ख्याल आ जाया करता है कि मुझे ज्ञान हुआ, पर दर्शन होकर यह ख्याल नहीं आ पाता कि मुझे दर्शन हुआ । और दर्शन का ख्याल न आ पाने का कारण यह है कि हमारी धुन बाह्यपदार्थों की ओर लगी हुई है । इन बाह्यपदार्थों की धुन में यद्यपि एक पदार्थ के ज्ञान के बाद दूसरे पदार्थ का ज्ञान करने के बीच दर्शन होता रहता है, लेकिन बाह्यपदार्थों में धुन इतनी तीव्र हो गयी है कि बीच में होने वाले अपने दर्शन की धुन नहीं रहती है ।

दृष्टान्तपूर्वक दर्शन के अवग्रहण की दुर्लभता का समर्थन—जैसे एक पुरुष को यह इच्छा हुई कि मुझे बहुत बड़ा धनी बनना चाहिए । एक बार किसी ने उपाय बताया कि अमुक पहाड़ में कोई पारस पत्थर भी है, वह मिल जाय तो उससे लोहे का स्पर्श होने से ही उतना स्वर्ण बन जायगा । उसने वहाँ पर बीसों गाड़ी पत्थर समुद्र के किनारे एक जगह पर इकट्ठा करवा दिया और एक लोहे का मोटा डंडा गड़ाकर एक हाथ में पत्थर उठाकर उस लोहे पर मारने लगा और देखता जाय कि यह लोहा सोना हुआ कि नहीं । यदि सोना हो जाय तो समझेंगे कि वही पारस पत्थर है । उन हजारों पत्थरों में से कोई पारस पत्थर भी था । तो वह पत्थर मारे, देखे कि अभी लोहा सोना नहीं हुआ, वह झट समुद्र में वह पत्थर फेंक दे ।

ऐसा ही काम बराबर जारी रक्खा । तेज धुन बन गयी । इसी क्रिया के बीच में एक बार पारस पत्थर आ गया, उसे भी उठाया, लोहे पर मारा और फेंका । जब लोहे को देखा तो वह सोना बन गया । सोचा—ओह ! वह तो पारस पत्थर था । तो जैसे एक अन्य धुन बन जाने पर धीरता नहीं रही और उस पारस पत्थर से भी हाथ धो बैठा, ऐसे ही बाह्य पदार्थों की ज्ञान की हम आप धुन बनाये रहते हैं जिस धुन में हम अपने आप में प्रकट हुए दर्शन की सुध नहीं ले पाते हैं ।

अवधिदर्शन और केवलदर्शन—सामान्य प्रतिभासरूप दर्शन यहाँ उपचार से अनेक भेदरूप बताया जा रहा है । अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम से मूर्तद्रव्य विकल्परूप से सामान्यतया प्रतिभास में आये उसे अवधिदर्शन कहते हैं । ये तीन दर्शन ज्ञान के साथ-साथ नहीं होते । यद्यपि ज्ञान और दर्शन ये दो गुण हैं और इनका प्रति समय परिणमन होता रहता है लेकिन उपयोग की बात कह रहे हैं । जिस समय उपयोग ज्ञान का है उस समय दर्शन का उपयोग नहीं होता, यह बात छद्मस्थ जीवों में है । केवलदर्शनावरण के अत्यन्त क्षय हो जाने पर केवल ही यह स्वयं मूर्तिक और अमूर्तिक समस्त पदार्थों को सामान्य रूप से जो-जो प्रतिभासता है वह केवलदर्शन है । यह केवलदर्शन नाम का विकास स्वाभाविक विकास है । इस प्रकार दर्शनोपयोग के भेद में ये चार प्रकार के दर्शन बताये हैं ।

दर्शनों में उपादेय तत्त्व —इन दर्शनों में उपादेय दर्शन केवलदर्शन है, पर केवलदर्शन के उपाय में केवलदर्शन का अविनाभूत अनन्तगुणों का आधार जो शुद्ध जीवास्तिकाय है वह ही उपादेय है । इस शुद्ध जीवस्वरूप को शुद्ध जीवस्वरूप के अनुभवरूप निर्विकल्प ध्यान से पायें । जो बाह्य में किन्हीं पदार्थों के संचय के लिए विकल्प करता है उसे न बाहर कुछ मिलता है, न अन्त: सन्तोष निराकुलता होती है, न अन्तरङ्ग समृद्धि प्रकट होती है । और जो अपने अन्तरङ्ग स्वरूप का दर्शन करता है उसे बाह्य समृद्धि से प्रयोजन क्या रहा? अन्तरङ्ग समृद्धि उसके अनन्त प्रकट होती ही है । हम अपनी प्रतीति इस प्रकार रक्खा करें कि मैं केवलज्ञानदर्शन स्वरूप, अपने आपके सत्त्व के कारण केवल प्रतिभासात्मक एक पदार्थ हूँ । जो स्वयं में परिपूर्ण है, सुरक्षित है, अन्य समस्त पदार्थों से न्यारा है, ऐसा एकत्व विभक्त निज अन्तस्तत्त्व का आलम्बन केवलज्ञान और केवलदर्शन के प्रकट होने का कारण बनता है ।

गाथा ४३

ण वियप्पदि णाणादो णाणी णाणाणि होंति णेगाणि ।
तम्हा दु विस्सरूवं भणियं दवियत्ति णाणीहिं ।।४३।।

ज्ञान की एकरूपता व नानारूपता—यह ज्ञानी जीव, ज्ञानगुण से पृथक् नहीं किया जा सकता । ज्ञानगुण में तन्मय है, तब यही सिद्ध हुआ ना कि यह आत्मा एक ज्ञानस्वरूप है । एक ज्ञानस्वभाव होकर भी इस प्रकरण में ये ज्ञान मतिज्ञान आदिक नाना रूप बताये गये हैं । इस कारण से ज्ञानी पुरुषों ने इस आत्मद्रव्य को विश्वरूप कहा है । ज्ञान की पद्धति ज्ञान के स्वरूप की ओर से देखा जाय तो यह एक स्वरूप है और ज्ञान में क्या जाना गया, ज्ञान ने क्या-क्या ग्रहण किया, उन ग्रहणात्मक रूपों को निरखकर देखा जाय तो यह ज्ञान नानारूप है । दृष्टियों से आत्मा की यह सब विलक्षणता ज्ञात हो जाती है ।

ज्ञान की ज्ञान से अभेदरूपता—यह तो प्रसिद्ध है ही कि ज्ञानी ज्ञान से अलग नहीं है । जैसे अग्नि गर्मी से अलग है क्या? जरा गर्मी को अग्नि से उठाकर दूर रख दो और जब मन में आये तब उस गर्मी को अग्नि में लगा दो, क्या ऐसा भी हो सकता है? अरे अग्नि गर्मी स्वभाव को लिए हुए है । ऐसे ही यह ज्ञानी आत्मा ज्ञान से अलग नहीं है । यह स्वयं ज्ञानस्वरूप को लिए हुए है । दोनों का एक अस्तित्व से निर्माण है, अस्तित्व एक ही है । स्वभाव और स्वभाववान का भेद किया गया है । पर चीज वही एक है । किसी भी एक वस्तु को जब हम व्यवहार में लायें, उसका प्रतिपादन करें तो हम उस एक को एक ही रूप में बताने में असमर्थ हैं । जैसा वह है तैसा ही का तैसा बता दें तो नहीं बता सकते हैं, उसके भेद करके गुणगुणी का भेद करके बतावेंगे ।

अन्तस्तत्त्व की अनिर्वचनीयता पर एक दृष्टान्त—भैया ! तत्त्व की अनिर्वचनीयता तो है ही लोक में भी। हम आप से पूछें—मिश्री कैसी होती है? तो जैसी है तैसी ही एकदम आप उसी रूप में नहीं बना सकते हैं । उसे कहेंगे बड़ी मीठी है । भाई ! अभी हमारी समझ में नहीं आया, कैसी मीठी है ? तो हम कैसे समझायें? तुमने क्या कभी मिश्री खाई है? नहीं। शक्कर खाई है? नहीं । गुड़ खाया है? नहीं । गन्ना चूसा है? हाँ-हाँ । तो देखो—गन्ने के चूसने में जो मिठास आती है, जितनी मधुरता ज्ञात होती है उससे अधिक मधुरता गुड़ में होती है। इसका कारण क्या? रस को पकाकर उसका बहुत-सा मैल निकालकर फेंक देते हैं। वह मैल मधुरता का बाधक है, जो निकला मैल है, उसको चखकर भी देख लो उसमें मधुराई नहीं है । रस का मैल दूर करके गुड़ बनाया तो अन्दाज कर लो कि रस से गुड़ कितना अधिक मीठा होता है, और गुड़ से भी, राब से भी जब मैल और छांट दिया जाता है तो शक्कर बनती है । वह मैल भी शक्कर की मधुराई में बाधक है । उस मैल के निकलने पर जो मिठास प्रकट होती है वह गुड़ से अधिक है । शक्कर की भी चाशनी करके उसका मैल भी निकालकर फेंक दिया जाता है । जब वह समस्त मैल दूर कर दिया जाता, तब उसकी मिश्री बनती है । तब समझ वह मिश्री शक्कर से कितनी अधिक मीठी होगी? समझे ना अब?....हाँ , हाँ बातों से तो समझ गये, पर अभी पूरी समझ में नहीं आयी बात । तब मिश्री की एक डली लेकर उसे खिला दो । खाने के बाद पूछो—अब समझ में आया कि मिश्री कितनी मीठी होती है? हाँ-हाँ अब हमारी समझ में आया ।

अन्तस्तत्त्व की अनिर्वचनीयता—यह आत्मदर्शन की बात भी अनिर्वचनीय, किन्तु अनुभवनीय है । बातों से तो बहुत समझ में आया है, आत्मा ज्ञानात्मक है, आनन्दात्मक है, सबसे निराला है और युक्तियों से भी देखो—जब आदमी मर जाता है तो शरीर यहीं पड़ा रह जाता है । जो छोड़कर गया है बस वही तो आत्मा है और देखो ये हाथ पैर कुछ जानते नहीं हैं । जो जानने वाला है वह कोई विलक्षण ही पदार्थ है, समझे ना ? हां बातों से तो कुछ-कुछ समझ गया । तो पूर्ण समझ तो तुम्हारे ही पुरुषार्थ से आयगी । जब भेदविज्ञान करके परवस्तुवों की उपेक्षा करें और अभेद निज अन्तस्तत्त्व की ओर झुकें, इन बाह्य विकल्पों को त्याग दें, शुद्ध विश्राम पायें तो आपके ही पुरुषार्थ से आपको अपने आत्मा का दर्शन होगा ।

उत्कृष्ट वैभव—इस लोक में सर्वोत्कृष्ट वैभव है तो आत्मानुभव है । क्यों जी ! तुम्हें चाहिए क्या? आनन्द । किसी से पूछो तो वह अपनी चाह बतावेगा, आनन्द । और इसके बाद खूब ज्ञान । ज्ञान और आनंद दो इच्छायें सबके होती हैं । मुझे खूब ज्ञान मिले और आनंद मिले, ये दो प्रकार की इच्छाएँ सब जीवों में पायी जाती हैं । ज्ञान बढ़ाने की भी इच्छा आनन्द के लिए है, इसलिए मूल में तो एक आनंद की इच्छा है, अब आनंद जिस विधि से मिले उस विधि से तो मुख न मोड़ा जाना चाहिए । परीक्षा करके देख लो । आनन्द किस विधि से प्रकट होता है? आचार्यदेव यहाँ आत्मानुभव को ही शुद्ध परम सहज आनंद का उपाय बता रहे हैं । श्रद्धान निर्मल हो, आत्मतत्त्व का झुकाव हो, परमविश्राम मिले तो स्वयं ही वह ज्ञानानुभव जग जाता है जिस आत्मानुभव में उत्कृष्ट आनन्द बसा हुआ है । ऐसे ज्ञानदर्शनसामान्यात्मक आत्मा के उपयोग से सर्व प्रकार का आनन्द प्रकट होता है । धर्मपालन में हमें एक यही यत्न करना योग्य है ।

ज्ञानी और ज्ञान का अभेदपना—ज्ञानी और ज्ञान में अभेद है, क्योंकि ये दोनों एक ही अस्तित्व से निर्मित हैं । अस्तित्व ४ दृष्टियों से निरखा जाता है—द्रव्यदृष्टि, क्षेत्रदृष्टि, कालदृष्टि और भावदृष्टि । द्रव्य तो ये दो हैं नहीं, फिर भी चूँकि शंकाकार ने अपनी कल्पना में ये दो पदार्थ सामने रक्खे हैं—ज्ञानी और ज्ञान । तो द्वैत तो हो ही गया ना? अब इन दो में बताया जा रहा है कि अस्तित्व एक ही है । यह तो हुआ द्रव्य से एकत्व, व्यक्ति से एकत्व कह लीजिए । शंकाकार की दृष्टि में चूंकि ये दो आये हैं, अत: कहना पड़ा है, अन्यथा यह कहना भी क्या शोभा देता है कि ज्ञानी और ज्ञान ये दोनों एक अस्तित्व से बने हैं । अरे वह एक चीज ही है । उसमें इस प्रकार का विकल्प बनाना शोभा नहीं देता, लेकिन जो घी का घड़ा

है यही जानता है उसे समझाने के लिए यह कहना ही पड़ता है कि देखो ना जो यह घी का घड़ा हैं वह वास्तव में घी का नहीं है, किन्तु मिट्टी का है, तो जो व्यवहारी जन हैं उनकी भाषा का पहिले आलम्बन लेना ही पड़ेगा । नहीं तो उसे समझायेंगे कैसे?

क्षेत्र व कालदृष्टि से ज्ञानी व ज्ञान का अभेदपना—क्षेत्रदृष्टि से देखो तो इन दोनों के अभिन्न प्रदेश हैं । ज्ञानी अपने प्रदेश जुदे रखता हो, ज्ञानतत्त्व अपने प्रदेश जुदे रखता हो, ऐसा नहीं है । दोनों ही एकक्षेत्र प्रदेशी होने के कारण एक क्षेत्री है । फिर भेद कैसा? कालदृष्टि से देखिये—तो दोनों ही ज्ञानी और ज्ञान एक ही समय से निर्वृत्त हैं, अत: एक काल है, एक काल का अस्तित्व है ज्ञानी में और ज्ञान में याने अनादि से ज्ञानात्मक है आत्मा ।

भावदृष्टि से ज्ञानी व ज्ञान का अभेदपना—क्या बात कही जा रही है? यह जो मैं हूँ सो ज्ञानस्वभाव हूँ । मेरा स्वभाव है ज्ञान । ऐसा सुनकर कहीं यह न जान लेना कि मैं एक पदार्थ हूँ और ज्ञान कोई मेरा स्वभाव है और वह अलग चीज है । कुछ लोग ऐसा सोचते होंगे कि ऐसा तो कोई नहीं सोचता । या तो उसके सम्बंध में कोई विचार ही नहीं उठाता और विचार उठाता है तो सीधा यों ही उठाता है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, आत्मा जुदा है, ज्ञान जुदा है, फिर उनका सम्बंध होता है, ऐसा तो कोई नहीं सोचता । अरे भाई हम आप कोई न सोचें पर कुछ दार्शनिक ऐसे हो गए हैं जिन्होंने इस दर्शन का विस्तार किया है कि आत्मा जुदी चीज है, ज्ञान जुदी वस्तु है । आत्मा में ज्ञान का जब समवाय होता है तब आत्मा ज्ञानी होता है । उस सम्बंध में यह प्रकरण चल रहा है कि आत्मा और ज्ञानस्वभाव ये कोई दो अलग-अलग नहीं हैं । द्रव्य एक है, क्षेत्र एक है, काल एक है और स्वभाव वही है, एक है । अत: भावदृष्टि से भी यह एक है, इसमें भेद है नहीं ।

ज्ञान के उपयोग—ज्ञान का ज्ञान से भेद नहीं किया जा सकता । यह तो एक आन्तरिक दृष्टि से बात हुई, निश्चयदृष्टि से बात हुई । अब जब हम इसके उपयोग में आते हैं, प्रयोग में जब हम इसका एक व्यावहारिक रूप निरखते हैं तब यह प्रतीत होता है कि एक होने पर भी और स्वभावदृष्टि से एक होने पर भी आभिनिबोधिक आदिक ये ५ प्रकार के ज्ञानपरिणमन हैं, इनका विरोध नहीं होता, यह भी सिद्ध होता है, क्योंकि यह द्रव्य विश्वरूप है, समस्तरूप है । जो इस जीव में गुण है और जो इस जीव की प्रवृत्तियाँ हैं उन समस्त प्रवृत्तियों रूप यह आत्मा है । क्या वह परिणमन जुदा-जुदा है? जैसे स्वभाव को निरखो, स्वभाव एक है और वह ज्ञान से अभिन्न है, ऐसे ही उस ज्ञानस्वभाव की जब प्रवृत्ति निरखते हैं तो क्रमभावी विशेष तो होंगे ही । वह शक्ति ही क्या, जिसका कोई व्यक्तरूप न हो, कोई परिणति नहीं है तो शक्ति की कल्पना का श्रम करना बेकार है । शक्तियों का कोई न कोई परिणमन प्रतिसमय होता ही है, चाहे किसी शक्ति की डिग्रियाँ कम हों कि उनका काम व्यक्त न हो सके, लेकिन कुछ भी जिसका परिणमन न हो सके ऐसी कोई शक्ति नहीं है । उनका अविभागप्रतिच्छेद बढ़ने से शक्तियां प्रकट व्यक्त हो जाती हैं, फिर भी ऐसी शक्ति कोई नहीं है जिसका त्रिकाल व्यक्त परिणमन न हो । प्रथम तो ऐसी शक्ति नहीं है जिसका किसी भी समय परिणमन रुक जाय । लेकिन कल्पना में यह बात लाई जाती है कि शक्तियों की डिग्रियां स्वभावत: कम हो जाये तो उनसे व्यक्त परिणमन नहीं होगा । तो जैसे यह स्वभाव यद्यपि एक है, लेकिन व्यक्तियां तो हैं ना । उन व्यक्तियों की दृष्टि से यह ज्ञान अनेकरूप हो गया और यह ज्ञानी उन अनेक परिणमनों में तन्मय है ।

द्रव्य की गुणपर्यायभाजनता—द्रव्य सहभावी गुण और क्रमभावी पर्याय का आधारभूत है, इसलिए अनन्त रूप है । प्रत्येक द्रव्य एक होते हुए भी अपने गुण और पर्यायों से सहित होने के कारण विश्वरूप है । यहाँ यह बात बतायी गयी है कि जिस प्रकार परमाणु से रूप अलग नहीं है, पुद्गल से रूप, रस,

गंध, स्पर्श कोई भिन्न चीज नहीं हैं इन चार प्रकार की शक्तियों का पुद्गल में त्रिकाल निवास है, और इन शक्तियों के जितने भी परिणमन हैं काला, पीला आदिक उन सब परिणमनोंरूप ये पुद्गल हैं, ऐसे ही इस जीव द्रव्य के जो गुण हैं, यह जीवद्रव्य उन गुणों में शाश्वत तन्मय है और गुणों के जितने भी अतीत काल के, भविष्यकाल के, वर्तमान काल के परिणमन हैं उन समस्त अनन्त परिणमनों में तन्मय है, इसलिए यह ज्ञान एकरूप होकर भी विश्वरूप है, यह जीव की सामान्य व्याख्या है।

शुद्ध ज्ञाता व ज्ञान में अभेदपना—अब शुद्ध जीव की अपेक्षा निरखिये तो यह शुद्धजीव शुद्ध एक अस्तित्व से निर्वृत्त है मायने रचा हुआ है । लोकाकाश प्रमाण असंख्यात किन्तु अखण्ड शुद्ध प्रदेशों में हैं । जहाँ केवल एक शुद्ध स्वाभाविक विकास ही रहा करता है । यह प्रभु की बात कही जा रही है । परमात्मा का क्या स्वरूप होता है, उनकी विभूति का वर्णन है । वह निर्विकार चैतन्य चमत्कार मात्र परिणति रूप से वर्तमान समयों में रचे हुए चले जा रहे हैं । ज्ञान ने समस्त लोकालोक को जाना, आनन्द से पूर्ण निराकुलता का अनुभव किया, ऐसे शुद्धपरिणमन रूप वे बराबर चलते जा रहे हैं । तो काल की अपेक्षा भी वह अनन्त काल तक भी एक-सी परिणतिरूप रहा करते हैं । निर्मल एक चैतन्य ज्योतिस्वरूप होने से वह एकस्वभाव हैं । अब उन शुद्ध प्रभु का क्या भेद किया जाय, वहाँ पर भी उनके गुण और पर्याय से कैसे भिन्नता की जाय?

अपनी बात—यह जीव पदार्थ ज्ञानानन्दस्वभावी एकस्वरूप है, इतने पर भी जब हम इसके प्रयोग को देखते हैं तो इसके नानारूप हो जाते हैं । यह प्रकरण किन्हीं की समझ में न आये तो इतना श्रद्धान तो बनाया ही जा सकता है कि अपने वैभव की हमारी बात कितनी गहराई से जैनसिद्धान्त में बतायी गयी है । किस्सा कहानी का मनगढंत इतिहास तो बहुत सरल होता है और उसमें दिल भी लगता है और यह तात्क बात गहन की है जो कि एक जैन दर्शन में बड़ी सावधानी और नयवाद के साथ बतायी गई है । उसका चमत्कार कितना अद्भुत विलक्षण है? मैं उस ही स्वरूप हूँ । जो चीज मेरे में गुजरना चाहिए, अनुभव में आना चाहिए जिस रूप हमारा परिणमन हो जाना चाहिए उस रूप होता नहीं और उसकी बात भी बड़ी कठिन और समझ से कुछ बाहर बनी हुई है । तब जानो कि हम अभी कितनी गिरी हुई जगह पर हैं । हमें मोह को नष्ट करके इस ज्ञानप्रकाश में बढ़ने का काम पड़ा हुआ है।

ज्ञान के भेद प्रभेद—यह आत्मा एकस्वरूप होकर भी नानारूप हो रहा है । इस ज्ञान की विवक्षावश कितने ही भेद करते जाइये-यह मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, केवलज्ञान और तीन कुज्ञान, इस प्रकार ८ ज्ञानों की पर्याय में रहता है और उसमें भी मतिज्ञान तीन प्रकार से गुजरता है—भावना, उपयोग और उपलब्धि । उपलब्धि तो प्रथम होती है—इसे कहते हैं लब्धि । किसी पदार्थ को जानने की योग्यता, अर्थ ग्रहण करने की शक्ति की प्राप्ति होना। फिर जाना, यह हुआ उपयोग और उसका कुछ देर तक चिन्तन चला, यह हुई भावना । श्रुतज्ञान के तो बहुत भेद हैं । श्रुतज्ञान दो रूपों में निरखा जाता है- एक तो शास्त्रज्ञान के रूप में और एक जीवों में मतिज्ञान के बाद जो विशेष विकल्प करके ज्ञान होता है उस रूप में । दोनों ही रूप इसके अनेक हैं । अवधिज्ञान भी कोई देशावधि, परमावधि व सर्वावधि यों तीनरूप हैं अथवा कुछ ज्ञान ऐसे होते हैं, अवधिज्ञान जिस जगह पैदा होता है उस जगह रहा आये, अवधिज्ञान चलता रहेगा । उस क्षेत्र को छोड़कर दूसरे नगर में गया तो अवधिज्ञान समाप्त, ऐसा भी अवधिज्ञान होता है । ऐसा भी होता है कि दूसरे क्षेत्र में जाय तब भी वही का वही बना रहता है, मरकर जाय तब भी बना रहता है और मरकर जाय तो न भी अवधिज्ञान बना रहे, ऐसा भी होता है । जितने रूप में अवधिज्ञान पैदा होता है उससे बढ़ता हुआ चला जाय, ऐसा भी अवधिज्ञान है, घटता हुआ चला जाय ऐसा भी अवधिज्ञान है । कभी घटे, कभी बड़े, यों अनवस्थिति में होता है जिस रूप में हुआ उसी रूप में रहे ऐसा भी होता है, यों भेद अवधिज्ञान के भी बहुत हैं । ऐसे ही मन:पर्ययज्ञान के भी भेद हैं । भेद करना

चाहें तो उसके सहभावी भेद भी अनन्त हो जाते हैं । जितने पदार्थों को जाना उतनी ही ज्ञान की कलायें हैं । इस प्रकार ज्ञान के यों अनेक भेद होते हैं ।

अपने हितकारी लक्ष्य का कर्तव्य—भैया ! अनेक भेद होकर भी हम आपको निर्विकार अभेदरूप चैतन्यस्वभावमात्र आत्मतत्त्व को निरखना है जिसके आलम्बन से यह महान् विस्तार वाला ज्ञानविकास प्रकट होता है । जैसे प्रत्येक मनुष्य को किसी न किसी ओर लगन रहती है । किसी को घर की लगन है, किसी को स्त्री की लगन है । जिसका नया विवाह हुआ है वह अपनी स्त्री के ही गुण गाता है । किसी को अपने पुत्र की लगन है । प्रथम बार पुत्र हुआ तो वही-वही दृष्टि में बसा हुआ है । किसी को धन से लगन है तो वह जहाँ बैठेगा वहाँ धन के प्रयोजन की ही बात करेगा । वही एक धुन रहती है । किसी को यश नामवरी की धुन है तो जगह-जगह भ्रमण, यहाँ वहाँ उपयोग करने की धुन में रहता है । प्रत्येक मनुष्य अपने आपके बारे में किसी न किसी रूप अपनी प्रतीति बनाये रहता है, जिस प्रतीति के कारण उसकी धुन बना करती है । तो ये सारी धुन बेकार हैं, अहितरूप हैं, दुःख के हेतु हैं । अपनी प्रतीति क्या बनाये, अपनी धुन कैसी बनाये? इस ओर कुछ हितबुद्धि से दृष्टि दीजिए।

अनात्मप्रतीति में हानि—मैं अपनी प्रतीति उस रूप करूं, जो रूप मेरा कभी रहने का नही, मिट जायगा तो उस प्रतीति से लाभ और स्थिरता नहीं हो सकती । मैं अपने को लड़कों का बाप मानूँ तो यह बापपना सदा निभ नहीं सकता । खुद मरेगा और कोई लड़का मरेगा तो वह क्लेश पायगा । अपने को इस दुनिया में नेता के रूप में माना तो उससे भी पूरा नहीं पड़ने का है । कौनसी लौकिक कीर्ति ऐसी है जिससे इस आत्मा का पूरा पड़ जाय? कौनसी धुन ऐसी है जिसकी धुन लगाने से आत्मा शान्ति में ही सदा बसा रहा करे? वह प्रतीति है अपने सहजस्वरूप की । मैं स्वरसतः चैतन्य भावमात्र हूँ । मैं केवल एक चित्प्रकाश हूँ । किसी ने नाम लेकर पुकारा तो मेरी इसकी ओर खिंचने की क्या जरूरत, यह अन्तर्जल्प से बोलिये । मैं इस नाम वाला ही नहीं हूँ । ये सब लोग अमुक नाम बताया करते हैं । इस नाम का न मुझमें कोई लेप है, न लेख है, न सम्बन्ध है । मैं तो एक यह पदार्थ हूँ । कोई मुझे अन्य-अन्य विशेषणों से पुकारे—सफल व्यापारी, पुरुषार्थी, लोकनाथ का धर्मात्मा, श्रावक, गृहस्थ, साधु, त्यागी किन्हीं नामों को कहकर पुकारे तो क्यों उसकी ओर मेरा आकर्षण हो? मैं इस रूप हूँ ही नहीं ।

नानात्मकता की प्रतीति में असारता—मैं तो एक शुद्ध चित्प्रकाशमात्र हूँ, सबसे न्यारा देह से भी जुदा केवल ज्ञानस्वभावरूप यह मैं आतमतत्त्व हूँ, इस प्रतीति में कितने ही गुण भरे हुए हैं । नाना प्रतीति में कोई सार नहीं है । काहे का यहाँ सुख है? लड़कों का सुख भी माना जा रहा है । वे आज्ञा न माने तो जी छोड़कर उनको डाटते भी जा रहे, बड़ी गुस्सा में भी रहना पड़ता है, यह कोई सुख है क्या? परिजन के बीच में अनेक-अनेक अकुलाहट चलती रहती हैं । फिर भी मान रहे हैं कि यह मैं हूँ, ये मेरे हैं, इनसे ही सुख मानते हैं तो यह कोई सुख में सुख है क्या?

सांसारिक सुखों का धोखा—अरे भैया ! ये सांसारिक सभी सुख ऐसे ही दुःखों से भरे हुए हैं । बिना बुना हुआ कोई पलंग हो और उसके ऊपर केवल चादर बिछा दी जाय तानकर के और कच्चे सूत से पाया से चादर की छोर कस दी जाय । कोई मजाकिया ऐसा कर भी सकता है और किसी से कह बैठे कि आइये साहब विराजिये । वह उसमें विराज जाय तो उसकी क्या दशा होगी? अरे वह गिर पड़ेगा, हाथ, पैर, सिर सब इकट्ठे हो जायेंगे । तो ऐसे ही तने हुए चादर की तरह ये सब समागम लग रहे हैं, इनमें सारतत्त्व कुछ नहीं है । आत्मा को ये संतुष्ट कर सकें, ऐसी बात यहाँ एक भी नहीं है । कल भी खाया था, आज भी वही खायेंगे, संतोष तो कुछ भी नजर नहीं आया । वैभव में, धनोपार्जन में इतना तेजी से जुते जा रहे हैं । किन के लिए? मोह में जिनको अपना मान रखा है उनके लिए । हैं सब जुदे । जिनको समझ लिया कि यह मेरा है, बस उसके ही लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर किए जा रहे हैं । यह

क्या है? यह अज्ञान का ही तो नाच है ।

प्रभुभक्ति का स्थान—ये समस्त विपत्तियां अपने प्रभु की प्रभुता को पहिचाने बिना हो रही हैं । अपने प्रभु की प्रभुता को पहिचान जाय तो इस जीव को एक भी संकट नहीं रह सकता है । इस प्रभु को अपने आप में बैठालने के लिए ही प्रभुभक्ति, सत्संग और ज्ञानार्जन हैं । ये तीन बातें न भूलिए । किसी न किसी दिन अपने अन्तर्मुख में अन्तःप्रकाशमान हो जायगा । प्रभुभक्ति को मत छोड़िये । देखो प्रभुभक्ति का कोई समय निश्चित नहीं है कि हम इस समय प्रभु की भक्ति करें। प्रभु सर्वोत्कृष्ट तो आप ही हैं, यह ही उत्कृष्ट परिणमन है, चमत्कार तो यही सर्वस्व है । भक्ति कर लेंगे । वह प्रभुभक्ति तो योग्यता होने पर अचानक ही हो जायगी । हा उद्यम जरूर करना है ताकि अन्य प्रसंगों में चित्त न लुभा जाय । कहो आपको प्रभुभक्ति की झलक रास्ता चलते हो जाय, घर बैठे हो जाय, कोई जगह हो जाय । ऐसी अन्तरङ्ग में अनुभूति हो जाय सारभूत तो यही पद है, और साथ ही अपनी असारता, अपनी अनुत्कृष्टता को ध्यान में देकर विषाद पश्चात्ताप उत्पन्न हो तो भगवान के गुणों को निरखने से उत्पन्न हुआ हर्ष और अपने वर्तमान क्षण में अवगुणों को निरखने से उत्पन्न हुआ खेद ऐसी हर्ष और खेद की जहाँ जुहार भेंट हुआ करती है वह है प्रभु दर्शन का एक क्षोभनीय रूप ।

सत्संग व ज्ञानार्जन की वृत्ति—जो विषय पिपासा से अत्यन्त दूर हों, संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हों, जिनकी धुन एक आत्महित के लिए बनी हुई हो, ऐसे पुरुषों के संग में समय बीते तो वहा भी उन जैसी दृष्टि बनाने का अवसर मिलेगा । सत्संग भी उपादेय है, और कुछ न कुछ थोड़ा बहुत ज्ञानार्जन करते ही रहें, उपयोग निर्मल रहेगा । युवक व बूढ़े होकर भी आप जितनी देर हाथ में पुस्तक लेकर बस्ता लेकर पढ़ते जा रहे हैं—हम अब पढ़ेंगे, ऐसा परिणाम होता है उस समय बालकवत् निर्विकारता की झलक तो आप लोग पा ही लेते हैं । ये तीन चीजें—प्रभुभक्ति, सत्संग और ज्ञानार्जन करके हम अपने आशय को निर्मल बनायें, यही सुखी होने का उपाय है।

गाथा ४४

जदि हवदि दव्वमण्णं गुणदो य गुणा य दव्वदो अण्णे ।
दव्वाणतियमधवा दव्वाभावं पकुव्वंति ।।४४।।

द्रव्य और गुणों की अभेदरूपता की प्रसिद्धि—वस्तुस्वरूप के सम्बंध में यह बताया गया था कि द्रव्य गुण और पर्यायों का अभिन्न आधार है । जो भी परिणमन हो, परिणमन अनित्य होता है । नया परिणमन होता है प्रति समय और पुराना परिणमन विलीन होता है । जो व्यक्त स्थितियां हैं उनका नाम पर्याय है । और वे पर्यायें इस ही जाति की हुआ करें, ऐसी उन पर्यायों का जो मूल है उसका नाम शक्ति है, और शक्ति तथा पर्यायें इन सबका जो समूह है उसका नाम द्रव्य है । यों तो भेद से अभेद की ओर आये, अब अभेद से भेद की ओर चले । कोई वस्तु है वह वस्तु एकरूप है, अद्वैत है अपने आप में । उस वस्तु का जब हम द्वैत रूप देखते हैं तो यह विदित होता है कि प्रत्येक वस्तु में प्रतिसमय नवीन-नवीन परिणमन होता है और वह परिणमन अपनी-अपनी शक्ति के अनुरूप होता है । यों अभेद से भेद बन गया । ऐसे भेदात्मक वस्तुस्वरूप को सुनकर कोई पुरुष यदि भेद का एकान्त करने लगे-द्रव्य से गुण भिन्न ही होता है, इस प्रकार से कोई भेद का एकान्त करे तो उस मंतव्य में क्या दोष आता है? उसका वर्णन इस गाथा में चल रहा है ।

द्रव्य व गुणों को भिन्न मानने पर दोषापत्ति—गुण और द्रव्य के सम्बंध में बातें चल रही हैं । गुण किसी न किसी जगह आश्रित हुआ करता है । जहाँ आश्रित होता है उस ही का नाम द्रव्य है । वह द्रव्य यदि गुणों से अभिन्न है तो रहा आये अभिन्न, लेकिन इस नियम में भ्रम नहीं हो सकता कि जहाँ गुण आश्रित रहे उसका नाम द्रव्य है, तब अन्य कुछ द्रव्य खोजिए । जिस द्रव्य को खोजें वह भी अन्य है तो इस प्रकार खोजते जाइये । द्रव्य गुणात्मक होता है, उस द्रव्य के गुण भी द्रव्य से भिन्न हैं तो कहाँ

टिकेंगे? क्या गर्मी अग्नि से भिन्न होती है? यदि भिन्न है तो उस गर्मी का आश्रय बतावो, वह गर्मी कहाँ ठहरती है? लो यों अग्नि भी नहीं रही, गर्मी भी नहीं रही । बिना आधार के गर्मी क्या, बिना गर्मी के अग्नि क्या? जैसे अग्नि और गर्मी इन दोनों को भिन्न-भिन्न मानने पर न अग्नि की सत्ता रह सकती, न गर्मी की सत्ता रह सकती, इसी प्रकार द्रव्य और गुणों को भिन्न-भिन्न मानने पर न द्रव्य की सत्ता रह सकती, न गुण का सत्त्व रह सकता । जो बात जैसी नहीं है वहाँ वैसी कल्पना करो कितनी आपत्ति आती है?

गुण गुणी के भेदहठ में एक द्रव्य में अनन्त द्रव्य का प्रसंग—गुण नाम अंश का है और गुणी नाम अंशी का है, पूरे का नाम गुणी है और उसके एक धर्म का नाम गुण है । अंश से अंशी जुदा नहीं रह सकता, अंश अंशी के आश्रय ही रहा करता है । यदि कोई यह हठ करे कि अंश से अंशी जुदा होता है तो यह तो निश्चित ही है ना, कि अंश आधार के बिना नहीं रह सकता । उसके लिए कोई अन्य अंशी चाहिए । गुण द्रव्य के बिना नहीं रह सकता तो गुण का कोई आधार चाहिए । इस द्रव्य को तो अलग मान लिया, फिर जो भी आधार मानेंगे वहाँ भी भेद की कल्पना हो जायगी । तब गुण और आधार कल्पनाएँ करिये । यों द्रव्य अनन्त हो जायेंगे अथवा यों ही मान लीजिए उतने ही द्रव्य होंगे, जितने गुण हैं । वे स्वयं स्वतंत्र द्रव्य हो गये, पर ऐसा है नहीं । द्रव्य तो गुणों के समुदाय का नाम है । क्या यह गुण उस गुण समुदाय से भिन्न है? गुण समुदाय से भिन्न मानने पर सीधीसी बात यह है कि न गुण रहेंगे और न द्रव्य रहेंगे ।

यथार्थज्ञान से ही शान्तिलाभ—यह बात अंतस्तत्त्व की चल रही है । मूढ़ लोग तो द्रव्य-द्रव्य का मेल बैठाल लेते हैं । यह एक चीज है, शरीर है सो मैं हूँ । अपनी सुध न रखना यह महान गल्ती है । दो चीजों को एक मान लेना भी गलत है और एक चीज को दो मान लेना भी गलत है । जब तक अपने अभेद ज्ञानस्वभावमात्र निज तत्त्व की सुध न होगी तब तक इस आत्मा को धीरता, गम्भीरता, शान्ति, निराकुलता आ ही नहीं सकती । परवस्तु से अपना सहारा माना, हितकारी माना; तो पर तो पर ही है । पर को जैसा परिणमन परिणमेगा । यहाँ यह व्यामोही जीव अनेक कल्पनाएँ बनाकर अनुकूल परिणमे, प्रतिकूल परिणमे इन कल्पनाजालों में उलझकर खेदखिन्न रहा करता है । प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, अपनी गुण-पर्यायों में तन्मय है । कोई पदार्थ किसी के गुण पर्यायरूप नहीं होता है । जब ऐसी वस्तुस्थिति है तो एक द्रव्य का दूसरा द्रव्य क्या लगा? कुछ भी सम्बंध नहीं है । यों भिन्न असम्बद्ध स्वतन्त्र पदार्थ को निरखने से मोह का विनाश होता है । जहाँ मोह अंधेरा नहीं रहा वहीं इस जीव को शान्ति प्राप्त होती है । तब वस्तुस्वरूप के सम्बंध में वास्तविकता क्या है? अब उसका वर्णन कर रहे हैं ।

गाथा ४५

अविभत्तमणण्णत्तं दव्वगुणाणं विभत्तमण्णत्तं ।
णिच्छंति णिच्चयण्हू तव्विरीदं हि वा तेसिं ।।४५।।

गुणगुणी की अविभक्तप्रदेशिता—द्रव्य और गुणों का जो अनन्यभाव है, ज्ञान है, सो ही आत्मा है । आत्मा है सो ही ज्ञान है । आत्मा ज्ञानमय है, ज्ञानस्वरूप है, इस रूप से जो अनन्यता ज्ञात होती है वह अविभक्तता है । पदार्थ तो भिन्न तब कहलाता है जब कि प्रदेश न्यारे-न्यारे हों । वह अपनी बॉडी में हो, वह अपनी बॉडी में हो, तब तो वे दो पदार्थ कहलाते हैं । पर यहाँ तो अग्नि का और द्रव्य का एक ही प्रदेश है । समझाने के लिए गुणगुणी का भेद किया जाता है । यहाँ तो जो है सो है । तो ऐसी अनन्यता को ही अविभक्तपना कहते हैं । इस अविभक्तपने में यह बात बनी हुई है कि कदाचित् द्रव्य की सिद्धि न हो, गुण का नाश हो तो गुण का भी अभाव होगा । द्रव्य का नाश हो तो द्रव्य का भी अभाव होगा । जैसे एक परमाणु एकप्रदेशी है, क्या वह परमाणु अपने प्रदेश से विभक्त है? एक प्रदेश में जैसे वह परमाणु द्रव्य

रह रहे हैं ऐसे ही रूप, रस, गंध, स्पर्श ये सब शक्तियाँ रहती हैं, पृथक् नहीं हैं, ऐसी ही समस्त द्रव्यों की बात है । जिस-जिस द्रव्य के जो-जो गुण हैं वे उस द्रव्य से पृथक् नहीं हैं ।

गुणगुणी में लक्षणभेद होने पर भी प्रदेशों का अभेद—द्रव्य और गुण में लक्षण का तो भेद है, पर प्रदेश का भेद नहीं है । लक्षण के यों भेद हैं । गुण उसे कहते हैं जो एक अंशरूप हो, द्रव्य उसे कहते हैं जो गुणों का पिंड एक अंशी हो । यों लक्षण में तो भेद आता है, पर प्रदेश में भेद नहीं आता । जैसे आम में रंग, स्वाद, गंध, स्पर्श ये चार जाति मालूम होती हैं ना, स्पर्श का ही तो नाम रस नहीं, स्वाद का ही तो नाम रंग नहीं । रंग चीज अलग है, स्वाद चीज अलग है, पर क्या प्रदेशभेद भी है? रंग किसी प्रदेश में हो, स्वाद किसी प्रदेश में हो, प्रदेश एक है, पर लक्षणभेद में उनमें भेद पड़ा हुआ है । यों तो जीव के गुणों-गुणों में परस्पर व्यतिरिक्तता जानना । आम का प्रदेश, रूप आदिक का प्रदेश वह सब एक ही है । ऐसे ही आत्मा का और ज्ञान का प्रदेश एक ही है, केवल लक्षणभेद है । आत्मा गुणी है और ज्ञान गुण है । यों गुणी गुण की व्यतिरिक्तता का जानना । किसी भी एक वस्तु में ५० बातें हम जानना चाहते हैं तो प्रदेश तो वही है और उन ५० बातों में फर्क जरूर है । एक मोटा दृष्टान्त लो—यह एक चौकी हैं, इस चौकी में लम्बाई है ना? चौड़ाई भी है, रंग भी है, तो लम्बाई जिस जगह है रंग उस जगह नहीं होता । चौड़ाई जहाँ है वहाँ रंग न हो, दूसरी जगह हो, क्या ऐसा है? नहीं है । चीज वह एक है और उस एक चीज के सम्बंध में हम जितनी बात समझेंगे उन सबका आधार वही प्रदेश है । यों ज्ञानी और ज्ञान में भेद न डालना।

ज्ञानी और ज्ञान में अव्यतिरिक्तता के अवगम का लाभ—ये सब बातें जोर देकर क्यों कही जा रही हैं? इसलिए कि हम यह श्रद्धान बनायें कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ । अन्य बातें तो जानें, पर अन्य बातों पर लक्ष्य न बनायें । लक्ष्य बनाये असाधारण स्वरूप पर । मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ । जो जानन है, ज्ञानप्रकाश है तन्मात्र हूँ । ऐसा ज्ञानप्रकाशमात्र कोई अपने को जाने तो वह ज्ञान की अनुभूति कर लेगा । और ज्ञानानुभूति को ही आत्मानुभूति कहा है । आत्मा में अनेक गुण हैं, आत्मा असंख्यातप्रदेशी है । यह आत्मा पैरों से लेकर सिर तक फैला हुआ है, इतनी लम्बी-चौड़ी जगह में आत्मा फैल रहा है, ये बातें तो आत्मानुभूति के निकट नहीं करने वाली हैं, इन बातों से आत्मानुभूति नहीं हो रही है । अच्छा और-और बातें विचारो, आत्मा आकाश की तरह अमूर्त है, रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित है । यों दृष्टि में लेने से भी आत्मा की अनुभूति नहीं हो पाती । आत्मा की और-और बातें सोच लीजिए । आत्मानुभूति के निकट ला सकने वाली कोई दृष्टि है तो वह ज्ञानदृष्टि है ।

मौलिक कल्याणमयी चिन्तन—अब कुछ ऐसा भी सोचने लगिये—मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञानप्रकाशमय हूँ । ज्ञान क्या? जानन । जानन क्या? यह प्रतिभास । यों चिन्तन करते-करते जानन ज्ञान में आ जाय, स्वरूप की झांकी आ जाय तो ज्ञान की तो अनुभूति हुई ना? उस ज्ञान की अनुभूति के ही साथ निर्विकल्प दशा होती है । कारण यह है कि अब इस प्रसंग में जानने वाला भी ज्ञान है और जिसे जान रहा है वह भी ज्ञान है । तो जब ज्ञान और ज्ञेय अभेद हो गया वहाँ निर्विकल्पता आती ही है, विकल्प क्या करेगा? जानन में दूसरा आये, जानने वाला दूसरा हो तो वहाँ विकल्प रहता है । जब निर्विकल्प स्थिति हो जाती है तो ऐसी स्थिति का अनुभव आत्मानुभव कहलाता है । यह कल्याण की बात, आत्मानुभूति की बात एक अपने सहज ज्ञानस्वभाव के अनुभव में बसी हुई है । सर्वोत्कृष्ट आनन्द पाने का उपाय हम आप सबमें सहज बसा हुआ है ।

बाह्यदृष्टि में अनर्थलाभ—यह बाह्य पदार्थों का संयोग, बाह्य पदार्थों का लक्षण, बाह्यपदार्थों का प्रेम, परिजन कुटुम्ब आदिक को प्रसन्न बनाये रखने का यत्न—ये सब बड़े कठिन हैं । ज्यों-ज्यों नम्र बनो, ज्यों-ज्यों परिजनों की ओर झुको, ज्यों-ज्यों उनसे प्रेम करो, ज्यों-ज्यों अपना सर्वस्व उन्हें सौंपने की बात सुनावो त्यों-त्यों उनके और मान चढ़ता है, और अपने आप में वे ऐसा महत्त्व आंकने लगते हैं कि कुछ

ही समय बाद उनकी ऐसी चेष्टाएँ होने लगती हैं कि वे व्यापक चेष्टावों को प्रतिकूल मानने लगेंगे। तब फिर क्या करें आप ? यह तो ज्ञानी पुरुषों के सोचने की बात है ।

अज्ञानियों का स्पष्ट निर्णय—अज्ञानियों का तो स्पष्ट निर्णय है कि घर वाले कैसे भी रक्खें, वे रहने के लिए तैयार हैं । जैसे कोई एक बाबाजी को उसके नाती-पोते बहुत परेशान करते थे । कहीं मूंछ पटाये, कहीं सिर पर चढ़े । वह बूढ़ा कभी-कभी रोने भी लगे । एक बार उधर से निकला कोई संन्यासी, पूछा—बाबाजी ! तुम क्यों रोते हो? तो उस बूढ़े बाबा ने सारी बात बतायी कि ये हमारे नाती-पोते हमें बहुत तंग करते हैं—कभी सिर पर चढ़ते हैं, कभी मूंछ पटाते हैं । तो संन्यासी ने कहा—अच्छा हम तुम्हारा संकट मिटा दें? तो वह बूढ़ा बोला, हाँ महाराज हमारे संकट मिटा दो । उसने सोचा कि संन्यासी जी कोई ऐसा मंत्र फूंक देंगे कि ये नाती-पोते फिर हमारे आगे हाथ जोड़े खड़े रहा करेंगे । तो जब कहा कि हमारे संकट मिटा दो तो संन्यासी बोला—अच्छा घर छोड़कर हमारे साथ चल दो, तुम्हारे सारे संकट मिट जायेंगे । उस बूढ़े ने कहा—अरे ! तुम कौन हमें बहकाने आये, हम तुम्हारे संग नहीं जायेंगे । अरे ये चाहे कितने ही मारे, पीटें, ये मेरे नाती-पोते ही रहेंगे और हम उनके बाबा ही रहेंगे । तो अज्ञानियों का तो स्पष्ट ही निर्णय है । निर्णय तो ज्ञानियों को करना है कि हमें क्या करना है?

ज्ञानी गृहस्थों की चर्या—गृहस्थजन परिजनों के बीच रहते हैं, उन्हें सब प्रकार के व्यावहारिक कार्य करने पड़ते हैं, करें, पर व्यावहारिक रागव्यवहार कार्य करके जो भी बाधाएँ आ सकती हैं, उन बाधावों से दूर होकर अपने काम में तो लग जाये-यही करने का काम है । धन, वैभव, परिजन, इनको ही सर्वस्व मानने का मोहांधकार यह दुःखी ही करेगा, बरबाद ही करेगा । कोई इसमें सार नहीं है, लेकिन परिस्थिति गृहस्थी की है, वहाँ अनेक बातें करनी पड़ती हैं, कर लीजिए, किन्तु जो यथार्थ बोध की बात है उससे विमुख मत होइये । यह सब साहस सम्यग्ज्ञान होने पर ही तो हुआ करता है ।

ज्ञानबल का महत्त्व —देखिये भैया ! महत्त्व ज्ञान का ही है । एक भैंसा जो कि ६०-७० मन बोझ ढोता है, वह कितना ताकतवर होता है? पर एक ८,९ वर्ष का लड़का उसे जहाँ चाहे ले जाता है । यह क्या बात है? अरे उस लड़के में ज्ञान है, विवेक है और उस भैंसे में उतना ज्ञानबल नहीं है, इस कारण वह भैंसा उस छोटे से लड़के के वश में रहता है । तो बुद्धिबल की, ज्ञानबल की महिमा अद्भुत है । अपना ज्ञानबल बढ़ावो तो यह साहस भी बढ़ेगा । आध्यात्मिक जीवन अध्यात्म ज्ञान बिना नहीं बन सकता ।

आत्मा की ज्ञानमयता—इस अन्तराधिकार में यह चर्चा चल रही है कि यह मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हूँ । यह जल और दूध की तरह भी एक जगह बसा हुआ नहीं है । वहाँ भी प्रदेशभेद है । जल की अत्यन्त छोटी बूंद जो आप हाथ से भी नहीं कर सकते, सीक डालकर भी नहीं कर सकते, जिस बूंद को आप सुई से गिराये उसमें भी अनगिनती और बूंदें हैं । ऐसे ही दो-दो एक-एक बूँदें दो-दो एक-एक दूध की बूँद के आसपास बसी हुई हैं । दूध में पानी नहीं है, पानी में दूध नहीं है, पर उनका इतना घनिष्ट मिलाप है, सम्पर्क है कि हम आपकी समझमें नहीं आ पाता । तो जैसे दूध और पानी भिन्नप्रदेशी हैं उतने भी भिन्न प्रदेश में आत्मा और ज्ञान नहीं हैं । ये एक रूप हैं । भगवान के स्वरूप की भक्ति की बात भी हमारे उपयोग में तब ही होती है जब हम अपने उपयोग को 'केवल ज्ञानमात्र हूं' इस प्रकार अनुभव करें । वह ज्ञानमात्र प्रभु स्वयं में है ना, और उस ही रूप से हम प्रभु में निरखें तो यह समानता हो जाने के कारण प्रभुभक्ति बनती है ।

ज्ञानी और ज्ञान में व्यवहार में कथंचित् भेद व निश्चय अभेद—इस आत्मा और ज्ञान में केवल पहिचानने के लिए भेद है, वैसे भेद नहीं है कि आत्मा कुछ न्यारी जगह की बात हो और ज्ञान कुछ न्यारी जगह की बात हो । अपने आपको मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, जाननरूप हूँ, जानन प्रकाशमात्र हूँ, ऐसा

प्रतीत करके इस प्रकार की भावना में रत हो जाइये । अन्य बातों को छोड़ दो । तो अन्य विकल्प दूर कर लेने से और एक ज्ञानमात्र अपने आपकी धुन बना लेने से ऐसी निर्विकल्पता आयगी कि बस उस ज्ञानमात्र होने की स्थिति में ही, अनुभव में ही विशुद्ध आनन्द जगेगा, इससे ही कर्मक्लेश कटेंगे ।

विशुद्ध आनन्द की कर्मक्लेशसंहारकता—कर्मक्लेश कटेंगे, तो इस विशुद्ध आनन्द के द्वारा ही कर्म कटेंगे । तपस्या की वेदनाओं से कर्म न कटेंगे । तपस्या तो विषयकषायों के परिणामों को रोकने में एक सहायक उपाय है । जैसे दो बच्चों में लड़ाई हो जाय, तीसरा कोई मित्र है तो वह दूसरे बच्चे को मारेगा तो नहीं, किन्तु उसका कुछ हाथ पकड़ लेगा, उसको रुद्ध कर देगा और वह मार देगा, उसे अवसर मिल गया । ऐसे ही यह तपस्या विषयकषायों को रुद्ध कर देती है, रोक देती है, फिर इस ज्ञान को मौका मिलता है । वह अपने आपके स्वरूप में प्रवेश कर जाता है । यों यही निर्णय रखिये कि मैं ज्ञानमात्र हूँ । इस ज्ञानस्वरूप की भावना बनायें, इस ही रूप अपनी प्रतीति रक्खें, इस ही रूप अपना आचरण बनायें, इसको ही सार समझे, इससे ही अपने भाव उज्ज्वल होंगे और निकट भविष्य में ही अवश्य शांति पा लेंगे ।

गाथा ४६

ववदेसा संठाणा संखा विसया य होंति ते बहुगा ।
ते तेसिमणण्णत्ते अण्णत्ते चावि विज्जंते ।।४६।।

अभेद में विवक्षावश भेद का कथन—इस प्रकरण में यह बात कही जा रही थी कि आत्मा और ज्ञान में भेद नहीं है । न तो आत्मा के प्रदेश न्यारे हैं और न ज्ञान के प्रदेश न्यारे हैं । आत्मा ही ज्ञानस्वभाव को रखता हुआ रहा करता है । ऐसी आत्मा की और ज्ञान की अनन्यमयता सिद्ध करने के पश्चात् अब व्यावहारिक प्रयोजन से आत्मा और ज्ञान में किसी दृष्टि से भेद भी हुआ करता है, इसका वर्णन इस गाथा में किया जा रहा है ।

अभिन्न व भिन्न दोनों में भेदकथन की शक्यता—द्रव्य और गुण के जो भेद होते हैं वे अन्य-अन्य प्रकार से किए जा सकते हैं अर्थात् देखे जा सकते हैं । उनमें चार मुख्य प्रकार हैं—व्यपदेश, संस्थान, संख्या और विषय । ये चार क्या चीजें हैं? इनका स्पष्ट विवरण स्वयं इनके विशेष वर्णन के समय हो जायगा । संक्षेप में यों जानो व्यपदेश नाम है नाम का । किसी का नाम कुछ, किसी का नाम कुछ । संस्थान नाम है आकारभेद का और संख्या मायने गणना और विषय मायने भाव, आधार, आश्रय ये चार प्रकार के भेद भिन्न पदार्थों में भी होते हैं और अभिन्न पदार्थों में भी ये भेद देख लिए जाते हैं ।

भिन्न में व्यपदेशादि कथन—जैसे बारूमल की गाय, तो यहाँ दो चीजें भिन्न हैं, बारूमल जुदे हैं, गाय जुदी है, आकार भी भिन्न है ना । ऐसा तो नहीं है कि कभी चार पैर वाले बारूमल दिख जायें और कभी दो हाथ पैर वाली गाय दिख जाय । आकार न्यारा-न्यारा है और गणना भी यह गाय में है, यह बारूमल में है, उसके अंगों में गणना न्यारी-न्यारी है, और आधार भी जुदा है, विषय भी जुदा है । बारूमल की खुराक, बारूमल का रहना अलग है, गाय की खुराक, गाय का रहना अलग है । बारूमल महल में रहते हैं, गाय आँगन में रहती है तो भिन्न-भिन्न चीजों में भी तो ये चार प्रकार के भेद निरखे जाते हैं । और अभेद में भी चार प्रकार के भेद कर लिए जाते हैं।

अभिन्न में व्यपदेशादि कथन—जैसे वृक्ष की शाखा । क्या वृक्ष जुदी चीज है और शाखा जुदी चीज है, फिर भी एक प्रदेश, एक क्षेत्र होने पर भी व्यवहार में तो ऐसा कहा ही जाता है, गलत तो नहीं है कुछ । कोई यदि यह कह दे कि इस वृक्ष में ५ शाखायें हैं तो बताओ इस वृक्ष की ५ शाखायें हैं तो यह गलत बात तो नहीं कही? देख लो, हैं इस वृक्ष में ५ शाखायें, पर वृक्ष कोई अलग चीज हो और उसकी ये शाखायें अलग हों, ऐसा तो नहीं है । तो एक वस्तु में भी एक चीज में ही विवक्षा प्रयोजन आदिक के भेद से भेद कर लिया जाता है । संस्थान भी देख लो, वृक्ष का आकार तो उस समूचे को दृष्टि में रखकर आप

जानेंगे । यह वृक्ष का आकार और शाखा का आकार उतने अंश को दृष्टि में रखकर जान जावोगे—शाखा का यह आकार है, तो वृक्ष का आकार जुदा है और शाखा का आकार जुदा है । जितने रूप में वृक्ष का आकार निरखा गया क्या उतने रूप में उस पद्धति में शाखा का आकार दिख जाता है? जिस रूप में जितनी पद्धति में शाखा का आकार दिख जाता है, क्या उस पद्धति में उस रूप में वृक्ष का आकार दिख गया? लो आकार भी भिन्न-भिन्न है और संख्या भी न्यारी है । वृक्ष तो एक है, न शाखायें ५ हैं और विषय भी न्यारा है । वृक्ष का अवगाह वृक्ष में है, शाखा का अवगाह शाखा में है, इतने पर भी वे एक क्षेत्रावगाही हैं, भिन्न क्षेत्र में नहीं हैं । यों अभिन्न में भी ये ४ प्रकार के भेद दिख जाते हैं । इनके अलावा और भी भेद तकिये ।

अभिन्न व भिन्न दोनों में कारकव्यपदेश—बहुत से कारक भेद में भी होते और बहुत से कारक अभेद में भी होते । जैसे बारूमल बाल्टी में गाय के लिए घर से दलिया लाकर आँगन में गाय को थुली खिला रहे हैं । देखो सभी चीजें न्यारी-न्यारी हैं ना, घर जुदा, बारूमल जुदा, बाल्टी जुदा, दलिया जुदा, गाय जुदा, आँगन जुदा, छहों के छहों कारक न्यारे-न्यारे हैं तो भेद में भी यह ६ कारकों का प्रयोग देखा गया है और अभेद में देख लो । यह मिट्टी खुद ही खुद के द्वारा, खुद के लिए, खुद को खुद में घड़े रूप को उत्पन्न करती है । यह बात गलत तो नहीं है? ये अभेद में कारक हैं, एक चीज है वह मिट्टी, और जो कुछ हो रहा है, जिसके द्वारा हो रहा है, जिसके लिए हो रहा है वे सबकी सब बातें अभेद हैं । तो भेद में भी षट्कारक का व्यपदेश है और अभेद में भी षट्कारक का व्यपदेश है । यह आत्मा, आत्मा के द्वारा अपने लिए अपने से अपने में अपने को जानता । है ना यह यथार्थ बात।

भिन्न व अभिन्न दोनों में संस्थानभेद का कथन—भिन्न में भी संस्थान का भेद होता है । जैसे हृष्ट-पुष्ट बारूमल की गाय हृष्ट-पुष्ट है । पुष्ट का संस्थान ही तो हुआ है । दो जगह भिन्न-भिन्न जुदे संस्थान हैं, और अभिन्नता में भी देखा जाता है । पुष्ट वृक्ष की पुष्ट शाखायें हैं । वृक्ष और शाखायें कोई जुदी-जुदी चीजें तो नहीं हैं एक बात है, फिर भी ये दो संस्थान के भेद दिख गये । यह वृक्ष भी पुष्ट है और यह शाखा भी पुष्ट है या कभी गाय तो हो जाय दुबली और बारूमल ज्यों के त्यों रहें तो कहा जा सकता है कि पुष्ट बारूमल की गाय दुर्बल है । देखो जुदे-जुदे संस्थान दो जगह हो गए । कोई वृक्ष ऐसा होता है कि वृक्ष हो जाय पुष्ट और शाखा तने से बड़ी दुर्बल निकल जाय तो वहाँ भी यह कह सकते हैं कि इस पुष्ट वृक्ष की यह दुर्बल शाखा है, पतली शाखा है । तो अभेद में भी संस्थान का भेद किया जाता और भेद में भी संस्थान का भेद किया जाता । यहाँ आत्मा का ज्ञानगुण अभिन्न है, सो अभिन्न में यह भेद किया गया है ।

भिन्न व अभिन्न दोनों में संख्याभेद का कथन—संख्या का भेद देख लो । जैसे यह कहा जायगा कि बारूमल की दो गाये हैं—एक गाय और एक बछिया, तो संख्या दो हो गयी । बारूमल एक ही रहे तो भिन्न में भी संख्या का भेद है, और ऐसा भी तो बोल सकते कि एक वृक्ष की ५ शाखायें हैं तो अभेद में भी गणना हो जाती है, ऐसे ही आत्मद्रव्य के अनन्तगुण हैं तो देखो गुणों की संख्याएँ तो बहुत हैं और आत्मा एक ही है, तो अभेद में भी संख्याभेद निरखा जाता है । यह उक्त ४ प्रकार के भेदों का जुदा-जुदा विवरण चल रहा है ।

भिन्न व अभिन्न दोनों में विषयभेद का कथन—अब विषयभेद देखो—आधारभेद देखो । जैसे बहुत दिनों तक गाय की सेवा करते-करते हैरान हो गए तो सलाह करके यह तय किया कि दिनभर यह गाय चर आया करे । बरेदी सबकी गायें ले जाता है तो उनमें यह भी चली जायगी और दिनभर चर आयगी । तो गायों का जो समूह है संस्कृत में उसका नाम है—गोष्ठ और हिन्दी में नाम है हेड़ । उस हेड़ का जो उस समय मालिक हो वह हो गया हेड़मास्टर याने बरेदी । अब हेड़ में गाय जाने लगी तो यों कहा कि यह गाय हेड़ में है । तो वह गाय अन्य गायों से भिन्न चीज है । भिन्नता और अभिन्नता का भेद यों

जानना कि जहाँ भी प्रदेश भेद हो उसे मानो भिन्न और जहाँ प्रदेशभेद न हो उसे मानो अभिन्न । भेद में व्यवहार ठीक ही है । आँगन में गाय है, कमरे में गाय है । जैसे भेद में भी विषय होता है यों ही वृक्ष में शाखायें हैं यों अभेद में भी आधार आधेय का भेद किया जाता है । ऐसे ही आत्मा में ज्ञानादिक गुण हैं यह अभेद में आधार-आधेय का भेद किया गया है ।

अन्तस्तत्त्व के दर्शन की शिक्षा—इस प्रकरण से हमें क्या समझना है कि आत्मा और ज्ञान के बारे में भेद कथन भी किया जा रहा हो कि आत्मा में ज्ञान है, आत्मा का ज्ञान है, ज्ञान का यह स्वरूप है, आत्मा का यह स्वरूप है आदिक भेद किए जाये तब भी निश्चय से यह जानना कि वे भिन्न-भिन्न चीजें नहीं हैं । आत्मा और ज्ञान अभेद एक पदार्थ हैं । प्रकृत में यों निरखना कि नामकर्म के उदय से जो मनुष्य नारकी आदि संज्ञा मिली है आप कौन हैं? मनुष्य हैं, बारूमल कौन हैं? मनुष्य हैं और गाय क्या है? तिर्यञ्च है, पशु है । यद्यपि ये व्यतिरेक नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुए हैं, फिर भी शुद्ध जीवास्तिकाय की दृष्टि से निरखिये । कोई प्रकार का जिसमें संस्थान नहीं है, ऐसा वह सब एक-एक चेतनात्मक पदार्थ है ।

व्यक्त उपादेय तत्त्व—अब जरा व्यक्त रूप से सिद्ध भगवान में निरखिये शुद्ध जीवास्तिकायपना । अंतिम देह से कुछ कम देह के आकार में उनके संस्थान हैं । केवलज्ञानादिक अनन्तगुण हैं । इस आत्मा में अनन्त गुणों के संस्थान हैं । लोकाकाश प्रमाण असंख्यात शुद्ध प्रदेशी हैं । पंच इन्द्रियों का अब वहाँ विषय नहीं रहा । एक शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न वीतराग परम आनंद रस से परिणत उनका ध्यान विषय है, तो उस शुद्ध जीवास्तिकाय को भी निरखिये जो व्यक्त रूप से है, वह हम आपके लिए उपादेय है और यह भी स्वभाव में निरखिये जहाँ कि यह भेद गायब हो जाता है, ऐसा शुद्ध अन्तस्तत्व हम आपके लिए उपादेय है ।

गाथा ४७

णाणं धणं च कुव्वदि धणिणं जह णाणिणं च दुविधेहिं ।
भण्णंति तह पुधत्तं एयत्तं चावि तच्चण्णहू ।।४७।।

भिन्न व अभिन्न में कर्तृत्व का कथन—इस गाथा में वस्तुधर्म का भेद कहा है, और अभेद किस तरह किया जाता है उसका भी कुछ उदाहरण दिया है । जैसे यह कहा करते है कि धन पुरुष को धनवान बना देता है, यह भेद में व्यवहार है । धन जुदी चीज है, पुरुष जुदी चीज है ऐसा भिन्न-भिन्न पदार्थों में लो व्यवहार बनाया गया है यह भेद व्यवहार का उदाहरण है, और यह कहना कि ज्ञान पुरुष को ज्ञानी बना देता है, यह अभेद उदाहरण में है । ज्ञान जुदी चीज नहीं है, पुरुष जुदी चीज नहीं है, एक ही पदार्थ में विवक्षावश भेद करके बताया गया है । वस्तुतः वहाँ अभेद है । ऐसा ही सर्वत्र जानना ।

व्यहारकथन का निश्चित लक्ष्य—भैया ! व्यवहारकथन को निश्चयदृष्टि का सच न मान लो । किसमें क्या कहा गया है, किसका संकेत किया गया है उसे सच मानो । जैसे माता अपने बच्चे को गोद में लेकर ८ बजे रात को छत पर खड़ी होकर चंदा मामा दिखाती है—देखो बेटा ! वह है चंदा मामा । अंगुली से दिखाती है । कहीं वह अंगुली ही चंदा नहीं बन गयी, पर उस अंगुली के सहारे से उस सीधे मार्ग से निरखे तो चांद दिख जायगा, ऐसे ही किसी वस्तु के सम्बंध में कुछ भेद कथन से बताने को बात चल रही हो तो उस भेद में ही उलझ नहीं जाना, किन्तु उस भेद को एक संकेत ही बनाकर वक्तव्य वस्तु की ओर दृष्टि करना । जैसे कभी आयुर्वेद की कक्षा के विद्यार्थियों को हिमालय पर्वत पर भ्रमण का प्रोग्राम बने, उनके साथ उनका गुरु भी जाय बताने के लिए । वह एक बेंत से बताता जाय देखो यह अमुक रोग की जड़ी है, यह अमुक रोग की दवा है, यों वह गुरु बेंत से उन सभी विद्यार्थियों को सभी दवायें बताता जा रहा है तो क्या कोई विद्यार्थी उस बेंत को ही दवा मान लेगा? शायद हो भी कोई ऐसा भोंदू विद्यार्थी जो उस बेंत को ही रोग की दवा जान जाय, पर वहाँ सभी विद्यार्थी बराबर पहिचान रहे हैं, जिस जड़ी पर बेंत की छाया की, झट विद्यार्थी पहिचान गये कि यह अमुक रोग की औषधि है । तो जैसे उस बेंत के

द्वारा औषधि को बताया जा रहा है ऐसे ही शब्दों के द्वारा वस्तु को बताया जा रहा है, पर शब्द ही वस्तु नहीं है । जैसे किसी से कहा जाय कि देखो तुम आत्मा को जानो तो क्या इसका यह अर्थ है कि बड़ा आ, आधा त और बड़ा मा इन शब्दों को जानो? इन शब्दों पर ही दृष्टि न दो, क्या कहा गया था इस बात को समझ लो । जो एक निरन्तर जाननहार शाश्वत ज्ञानमय पदार्थ है उसके स्वरूप की जाप और भावना के लिए कहा गया है । शब्द तो एक सहारे हैं । काम तो अन्त: करने का है ।

भिन्न व अभिन्न में कर्तृत्वव्यवहार का विवरण—देखो यहाँ भेद में भी व्यवहार है । धन का अस्तित्व जुदा है ना, पुरुष का जुदा है ना । धन में शब्द अलग हैं, पुरुष में शब्द अलग हैं, धन का आकार अलग है, पुरुष का आकार अलग है । धन की संख्या जुदी है, पुरुष की संख्या जुदी है, धन का आधार विषय जुदा है, पुरुष का आधार जुदा है, फिर भी यह कह डालते हैं कि धन पुरुष को धनी बना देता है, यह भिन्न पदार्थों में व्यवहार किया गया है कर्तृत्व का, और ज्ञान की बात देखो तो ज्ञान का अस्तित्व ज्ञानी पुरुष का अस्तित्व वही है । ज्ञान ज्ञानी को ज्ञानी बना देता है । व्यपदेश वही, संस्थान वही, संख्या वही, आधार वही । तो यह अभिन्न में भी कर्तृत्व का व्यवहार चल रहा है । तो व्यवहार से तो यह भेद आत्मा में दिख जाता है, पर निश्चय से यह भेद नहीं है । जो जीव के साथ अभिन्न रूप से रह रहा है, अभिन्न जिसका संस्थान है, संख्या है, अभिन्न ही जिसका आधार है, ऐसा ही यह अंतस्तत्त्व इस जीव को समृद्ध बनाया करता है और जिसे इस अंतस्तत्त्व का लाभ नहीं है, उस ज्ञानस्वरूप की दृष्टि नहीं है तो मनुष्य तिर्यंच नारकादिक गतियों में भ्रमण करता हुआ यह जीव इन कर्मों को भोगकर क्लिष्ट हो रहा है । ऐसे अपने आपके सहजस्वरूप की दृष्टि के बिना यह सारी आपत्तियों का जाल बिछ गया है, और इसकी भावना बन जाय, ऐसा अंतर बल प्रकट हो कि निर्मल केवलज्ञान उत्पन्न हो तब ऐसी शुद्ध स्थिति प्राप्त करने के लिए हम आपका क्या कर्तव्य है कि इस निर्विकल्प स्वसम्वेदन ज्ञान की ही हम भावना करें ।

सत्य के आग्रह व असत्य के असहयोग का प्रयोग—भैया ! जैसे मोह में मोहियों को भिन्न पदार्थों में तृष्णा का भाव जगता है, अपनाने की हठ बनती है ऐसे ही ज्ञानी होकर इस ज्ञानस्वरूप को ही अपनाने का आग्रह करें, सत्य का आग्रह करें और असत्य का असहयोग करें । आत्मा सत्य है, जो शाश्वत चित्स्वभाव है उसका तो आग्रह करो, मुझे अन्य कुछ न चाहिए, और असत्य का, विकारपरिणामों का असहयोग कर दीजिए । हमारा इनको कोई सहयोग न मिलेगा । हमारा सर्वस्व अपने सहजस्वभाव के लिए समर्पित हो चुका है । इस सत्य के आग्रह और असत्य असहयोग के बल से स्वयं ही अपने आप में निर्विकार विशुद्ध आनन्द जगेगा और उस आनन्द के अनुभव में ही सर्वकल्याण है, ऐसा वह स्वयं अपने आप में समझ जायगा ।

गाथा ४८

णाणी णाणं च सदा अत्थंतरिदो दु अण्णमण्णस्स ।
दोण्हं अचेदणत्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं ।।४८।।

ज्ञानी और ज्ञान में पृथक्त्व मानने पर आपत्ति—इस प्रकरण में यह बात चल रही है कि आत्मा से ज्ञान जुदा नहीं है । ज्ञानस्वरूप ही आत्मा है । केवल समझने और समझाने के लिए गुणगुणी का भेद किया है तो केवल व्यवहार के लिए भिन्नता है, किन्तु वस्तु में उससे अभिन्नता है । इस गाथा में यह बताया जा रहा है कि द्रव्य और गुण को यदि भिन्न-भिन्न मान लिया जाय तो उसमें क्या दोष आता है? यदि यह ज्ञानी अर्थात् आत्मा और यह ज्ञान सदा भिन्न ही चीजें हों तो ज्ञान रहा अलग, और आत्मा रहा अलग, तो आप यह बतलावो कि ज्ञानरहित आत्मा की स्थिति क्या होगी? क्या वह चेतन माना जा सकता है? ज्ञान है नहीं, मात्र आत्मा है तो वह अचेतन बन गया । इसी प्रकार यह ज्ञान जो कि आत्मा से भिन्न माना गया है, ज्ञान का आधारभूत कुछ रहा नहीं, बिना किसी आधार के कोई शक्ति हुआ भी करती है क्या? तो आधारभूत द्रव्य न होने से यह ज्ञान भी नहीं रहा अथवा आधारभूत द्रव्य तो चेतन था । उसका

अब सम्बंध रहा नहीं तो यह ज्ञान भी अचेतन हो गया । यह सिद्धान्त जिनेन्द्र भगवान के शासन में सम्मत नहीं है । उसको अवमत के रूप में देखा गया है ।

दृष्टान्तपूर्वक ज्ञानी और ज्ञान में अभेद का प्रतिपादन—जैसे अग्नि से उष्णता यदि भिन्न मान ली जाय, आग अलग चीज है और गर्मी अलग चीज है, ऐसा यदि भेद कर दिया जाय तो इसका क्या अर्थ होगा? गर्मी नहीं है और आग है । तो क्या ऐसी आग जिसमें गर्मी नहीं है ईंधन को जलाने में समर्थ हो सकती है ? नहीं । वह तो गर्मी शून्य है, शीतल है । इसी प्रकार ज्ञान गुण से अत्यन्त भिन्न यदि यह आत्मा है तो यह जीव किसी पदार्थ को जानने में समर्थ हो सकता है क्या? नहीं । तब यही तो निश्चय हुआ कि आत्मा जड़ है ।

भिन्नकारणिक में भी अभिन्नकारता की खोज—कदाचित् कोई ऐसा कहे कि जैसे देवदत्त कुल्हाड़ी से काठ काटता है, तो देवदत्त जुदा है, कुल्हाड़ी जुदा है । तो करण जिसके द्वारा कार्य किया जा रहा है वह है कुल्हाड़ी, कुल्हाड़ी जुदी चीज है, देवदत्त जुदी चीज है । जुदे-जुदे होने पर भी कुल्हाड़ी के द्वारा देवदत्त ने काठ काट ही तो दिया है । यों ही यह आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है । ज्ञान जुदा रहे, आत्मा जुदा रहे, फिर भी यह आत्मा ज्ञान के द्वारा जान लिया करेगा, कौनसी आपत्ति आती है? एक यह आशंका भिन्नवादी ने रक्खी है । समाधान यह है कि जैसे देवदत्त के दृष्टान्त में बतलाया कि देवदत्त ने कुल्हाड़ी के द्वारा काठ को छेदा, ठीक है, पर देवदत्त के हाथ का व्यापार न होता तो क्या काठ छेदा जा सकता था? देवदत्त के हाथ देवदत्त से अभिन्न हैं और इस अभिन्न अंशिक का व्यापार ही मूल में प्रेरक हो रहा है। ऐसे ही आत्मा का ज्ञान आत्मा से अभिन्न है, वह ही मूल में जानन के लिए प्रेरक हो रहा है ।

ज्ञान के बाह्योपकरणता का अभाव—चेतन कार्य के प्रति जैसे वह कुल्हाड़ी बाह्य उपकरण है ऐसे ही आत्मा का बाह्य उपकरण ज्ञान नहीं है । वीर्यान्तराय का क्षयोपशम होने पर उत्पन्न हुआ जो आत्मा का वीर्य विशेष है, शक्ति है वह आभ्यंतर उपकरण है । यदि यह शक्ति न प्रकट हो तो यह आत्मा कैसे जान सकता है? हाँ कुल्हाड़ी के दृष्टान्त की जगह ज्ञान के बाह्यसाधन अथवा गुरु आदिक बहिरङ्ग कारण दार्ष्टान्त समझ लीजिये । जैसे गुरु के द्वारा हम ज्ञान सीखते हैं तो गुरु तो कुल्हाड़ी की तरह भिन्न है, पर यह ज्ञान जो एक आत्मा का शक्ति शेष है वह भिन्न चीज नहीं है । अपना बहिरङ्ग कारण भी हो और ऐसा अन्तरङ्ग कारण का अभाव हो तो क्या कार्य हो जाता है? जैसे बहिरङ्ग कारण कुल्हाड़ी तो रखी है, पर देवदत्त अपने हाथ का व्यापार न करे तो क्या काठ छिद जायगा? ऐसे ही गुरु शास्त्र प्रकाश सब कुछ सामने मौजूद हों और एक स्वयं का ज्ञान विशेष शक्ति विशेष का प्रयोग न हो तो क्या ज्ञान हो जायगा? तो जिस ज्ञान के अभाव से यह जीव जड़ हो जाता है उस ज्ञान पर दृष्टि देना अपना कर्तव्य है।

आत्मा और ज्ञान की विभक्तता में दोष का विवरण—ज्ञान जीव से भिन्न चीज नहीं है । ज्ञान यदि ज्ञानी से भिन्न हो तो ज्ञान को कुछ कर्ता का सम्पर्क नहीं मिला । आत्मा है कर्ता । इस ज्ञान को कर्ता का सम्बन्ध नहीं रहा तो भला बतलावो कि कुल्हाड़ी पड़ी हुई है, काटने वाला कोई पुरुष न हो देवदत्त आदिक तो क्या वह कुल्हाड़ी स्वयं काठ को काटने की सामर्थ्य रखती है? नहीं । इसी तरह इस शंकाकार ने ज्ञान को भी माना है, आत्मा को भी माना है, पर जुदा-जुदा माना है । तो आत्मा जुदा रहा, ज्ञान जुदा रहा । आत्मा कर्ता है, ज्ञान कारण है । क्या यह ज्ञान आत्मा के बिना कुछ जानने में समर्थ हो सकता है? नहीं हो सकता है । तब ज्ञान को और आत्मा को जुदा-जुदा मानने पर आत्मा भी अचेतन बन गया और ज्ञान भी अचेतन बन गया ।

आत्मा में ज्ञान गुण की उत्कृष्टता—कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि यद्यपि यह आत्मा और ज्ञान जुदी-जुदी चीज हैं लेकिन आत्मा का व ज्ञान का संयोग हो जाता है । सम्बन्ध हो जाने से फिर ज्ञान भी चेतन हो गया, आत्मा भी चेतन हो गया । किन्तु बात यह घटित हो नहीं सकती, क्योंकि कोई भी द्रव्य अपना विशेष लक्षण लिए बिना, अपना कुछ स्वभाव किए बिना द्रव्य ही क्या है? जो अपने असाधारण लक्षण से

रहित है ऐसा द्रव्य तो असत् है । है ही नहीं । नाम ही लेना बेकार है । इसी तरह ऐसा गुण जिसका कोई आश्रय नहीं है, निराश्रित गुणों का भी अभाव है । यों आत्मा और ज्ञान जुदे-जुदे ठहर ही नहीं सकते । आत्मा ही स्वयं ज्ञानस्वरूप है ।

इस आत्मा का ज्ञान एक असाधारण लक्षण है, और है क्या? आत्मा में अस्तित्व भी है, वस्तु भी है । अनेक साधारण लक्षण हैं, अमूर्तपना भी है, सो और सब तो मानते जावो, उसमें ज्ञान भर मत मानो, आत्मा में ज्ञानस्वभाव है ऐसा न मानो । उस ज्ञानस्वभाव को अलग कर दो तो बुद्धि में आत्मा कुछ चीज रही क्या? आत्मा का प्राण अर्थात् जिससे आत्मा का अस्तित्व रहता है वह लक्षण तो चैतन्य है । ऐसा चैतन्यस्वरूप यह मैं आत्मतत्त्व हूँ । इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हूँ, शरीर नहीं हूँ । वैभव परिजन धन ये कुछ मैं नहीं । जितने विकल्प के तरंग हैं वे सब मैं कुछ नहीं हूँ । मैं तो केवल एक चैतन्यस्वरूप तत्त्व हूँ । यही है निज शुद्ध आत्मतत्त्व ।

कैवल्य—शुद्ध का अर्थ केवल होता है, सिर्फ उस चीज को रहने दे उसका नाम शुद्ध है । प्योर किसे कहते हैं, उसको जो केवल हो । कैवल्य हुए बिना पवित्रता नाम किसका? कोई चीज दूसरी चीज से मिलकर गंदी हो गयी तो उसे कैसे शुद्ध करते हैं? उसे धो-धाकर अलग कर देते हैं । जो है उसे वही रहने दिया जाता है । इसी तरह व्यक्त रूप में यह आत्मा अशुद्ध हो गया तो उसे शुद्ध कैसे करना है? जितने भी अन्य तत्त्वों का सम्बंध हो गया है उनको हटाकर केवल आत्मा ही आत्मा रहने दिया जाय उसको कहते हैं आत्मा का शुद्ध करना । ऐसे ही शुद्ध सिद्ध भगवान हैं, और उस ही उपाय में अपने आप में निरखा जाय तो हम आप भी सिद्ध बन सकते हैं, क्योंकि हम आपका भी स्वरूप वही है जो सिद्ध का है ।

आत्मा का सहज स्वरूप—यह मैं आत्मा जो कुछ मैं हूँ, स्वयं अपने आप स्वतःसिद्ध अपनी सत्ता के कारण क्या हूँ, कितना हूँ, कैसा हूँ, इस पर दृष्टि दी जाय तो यह विदित होगा कि यह तो केवल चित्स्वभावमात्र है । किसी पर के सम्बंध पर की अपेक्षा लगाये बिना पर के निमित्त से जो कुछ होता है उसे भी निरखे बिना केवल अपने सत्त्व के कारण जो इसमें हो वह भाव क्या है? वह भाव मिलेगा चित्स्वभाव । यह चित्स्वभाव शुद्ध है अर्थात् किसी पर की अपेक्षा रखकर न देखो । केवल एक अपने आपको स्वभावमात्र है, ऐसा इस शुद्ध आत्मा का जो अनुभव है, उपयोग है, ज्ञान है वह वीतराग सहज उत्तम आनन्द को झराता हुआ प्रकट होता है । सारी करामात ज्ञानकला की ही तो है । हम अपने ज्ञान का जिस प्रकार से प्रयोग करेंगे वैसा ही हम पर सुख दुःख अथवा आनंद बीतेगा । हम विकल्पात्मक पद्धति से इसे प्रयोग में लायें तो दुःख होगा, विकल्प होगा, और निर्विकल्पता की पद्धति से देखेंगे तो निर्विकल्प दशा होगी ।

गाथा ४९

ण हि सो समवायादो अत्थंतरिदो दु णाणदो णाणी ।
अण्णाणीति च वयणं एगत्तप्पसाधगं होदि ।।४९।।

समवाय सम्बंध—कोई दार्शनिक आत्मा और ज्ञान को भिन्न-भिन्न मानकर उसमें समवाय सम्बंध बताकर जानन क्रिया की सिद्धि करते हैं । समवाय सम्बंध का लक्षण संयोग से गम्भीर है, संयोग में भिन्न क्षेत्रपना है, किन्तु समवाय में भिन्न क्षेत्रपना नहीं किया जाता । और यों समझ लीजिए—कथंचित् तादात्म्य कहा जा सकता है । इस प्रकार का सम्बंध माना है, लेकिन समवाय सम्बंध मानकर भी वह द्रव्य दो माने गए हैं जहाँ मूल में ही द्वैत चल देगा । अब समवाय सम्बंध करके कितनी ही घनिष्टता उसकी बतायी जाय तो भी स्वरूप नहीं बन सकता ।

तादात्म्य के विपरीत समवाय की असिद्धि—ज्ञान से भिन्न आत्मा है, वह ज्ञान के समवाय से ज्ञानी कहलाता है, ऐसा कहना युक्त यों नहीं है कि यह तो बतावो कि इस ज्ञान का आत्मा में जब समवाय न

हुआ था, सम्बन्ध न हुआ था तब क्या यह आत्मा ज्ञानी था या अज्ञानी था? यदि यह कहें कि ज्ञान का समवाय समाप्त होने से पहिले भी यह आत्मा ज्ञानी था तो ज्ञानी तो था ही । अब ज्ञान का समवाय सम्बन्ध जोड़ने की आवश्यकता क्या रही? यह सम्बन्ध निष्फल ही रहा । यदि यह भेद किया गया कि ज्ञान का समवाय सम्बन्ध होने से पहिले यह आत्मा ज्ञानी न था तो वह अज्ञानी भी कैसे रहा? क्या अज्ञान का समवाय होने से अज्ञानी रहा या अज्ञान के साथ एकत्व मानने के कारण, अज्ञानमय होने के कारण यह आत्मा अज्ञानी रहा? यदि कहेंगे कि अज्ञान के समवाय से यह आत्मा अज्ञानी रहा तो वहाँ पर भी प्रश्न करें कि इस अज्ञान का समवाय सम्बन्ध होने से पहिले यह आत्मा अज्ञानी था या नहीं? अगर अज्ञानी था तो अज्ञान का समवाय करना निष्फल है और यदि न था, तो अज्ञान का समवाय आत्मा में ही कैसे हो गया । दूसरी बात यह है कि अज्ञान के समवाय से पहिले अज्ञानी न था तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह ज्ञानी था । तो ज्ञानी स्वयं ही रहा, फिर ज्ञान के समवाय करने की क्या जरूरत है? आत्मा ही ज्ञानस्वरूप प्रसिद्ध हो गया । अब तो कुछ भी समवाय की पद्धति नहीं रही ।

ज्ञानहीन आत्मा के साथ ज्ञान के समवाय होने के कारण की असिद्धि—आत्मा की ज्ञानरूपता सिद्ध होने पर भी यदि हठ करोगे कि ज्ञान का समवाय होने से पहिले आत्मा ज्ञानी नहीं है तो इसका कुछ कारण तो बतलावो कि यह ज्ञान इस आत्मा से ही क्यों समवाय सम्बंध रखता है? भीत, ईट, दरी से यह ज्ञान अपना समवाय क्यों नहीं जोड़ देता? कौन-सी खास विशेषता रही, जो यह ज्ञान आत्मा से तो जुड़े और पुद्गल आदिक से न जुड़े । जैसे ज्ञान से भिन्न चीज पुद्गल है, ऐसे ही ज्ञान से भिन्न आत्मा है, और जैसे यह पुद्गल ज्ञानरहित है ऐसे तो यह आत्मा ज्ञान के समवाय के पहिले अज्ञानी कहलाता है । तो आत्मा में और पुद्गल आदिक में जब ज्ञान के लिए सब बातें बराबर हैं तो यह ज्ञान आत्मा में ही जुड़े, पुद्गल आदिक में न जुड़े इसका क्या कारण होगा? तो शंका के उत्तर में प्रति शंका में रूप रखकर जो यह बात कही गयी है कि अज्ञानी आत्मा अज्ञान के समवाय से पहिले ज्ञानी था या न था? यदि था तो अज्ञान का समवाय निष्फल है और यदि न था तो इसका अर्थ है कि ज्ञानी हो गया । ज्ञानी वैसे भी नहीं कहा है, क्योंकि समवाय से पहिले ज्ञान कहाँ रहा? आखिर तुम्हें यह मानना पड़ेगा कि यह आत्मा ज्ञानी है तो ज्ञान के साथ एकत्व है । जो पदार्थ जैसा है वह अपने में एकत्व को लिए हुए है, अपने स्वभाव में तन्मय है और उसही एकत्व से उस वस्तु की सिद्धि होती है तो इसके लिए जैसे अज्ञान के साथ एकता होने के कारण आत्मा को ज्ञान से रहित मानना पड़ा है, इस ही प्रकार यह आत्मा ज्ञानी है तो ज्ञान के साथ एकता रखने के कारण ज्ञान है । ज्ञान जुदा हो, आत्मा जुदा हो, ऐसी बात त्रिकाल भी नहीं है । यह आत्मा ही एक ज्ञानस्वरूप को लिए हुए है । कभी भी यह आत्मा ज्ञान से भिन्न नहीं हो सकता ।

व्यक्तरूप में भी ज्ञानहीनता का अभाव—संसार अवस्था में यद्यपि यह ज्ञान बहुत अधिक ढका हुआ है, अव्यक्त है, प्रकट नहीं हो रहा है और ऐसे भी जीव हैं जिनकी दशा निरखकर आप यह कह बैठेंगे कि आत्मा तो ज्ञान का कुछ नहीं है । ये पत्थर, मिट्टी आदि पृथ्वीकायिक जीव हैं । क्या इनमें यह कल्पना दौड़ती है कि यह जीव है, इसमें ज्ञान है, यह जानता है । कोई ही सिद्धान्तवेदी ऐसा कहते हैं कि इनमें जीव है, ज्ञान है, जानते हैं, पर प्राय: लोग इन्हें ज्ञानरहित बताते हैं । कदाचित् जीव भी मान लो तो भी कहेंगे कि है तो जीव, मगर ज्ञानरहित है, ऐसी भी निकृष्ट दशायें हो जाती हैं । उससे भी निम्न दशायें निगोद जीव की हैं, ज्ञानरहित मालूम होते हैं लेकिन जीव है तो कोई ज्ञानरहित नहीं है । कितना भी ज्ञान ढका हो फिर भी कुछ न कुछ निरावरण होने से ज्ञान रहता ही है । पूर्ण ज्ञान पर आवरण नहीं है । जितने अंशों तक यह ज्ञान निरावरण रहता है, कैसी भी निम्नतम स्थिति हो तो भी प्रकट ही रहा करता है । उसके अतिरिक्त जो आवरण योग्य है उसमें भेद चला करता है कि इसका ज्ञान आवृत है, इसका व्यक्त है ।

ज्ञानस्वभाव की प्रतीति का शिक्षण—यह ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, इसमें भिन्नता नहीं की जा

सकती है । इस कथन से अपने को क्या ग्रहण करना है कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ । ज्ञान के अतिरिक्त मेरा कोई और स्वरूप नहीं है । वैभव आदिक ये मुझसे प्रकट निराले हैं । इनके साथ मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है । मैं तो मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ । यह सब मोह का अंधेरा है कि जो मैं नहीं हूँ जिसका मुझसे रच सम्बन्ध नहीं है ऐसे परिजन वैभव आदिक परपदार्थों में आत्मीयता जगती है । यह खुश होने की बात नहीं है, बड़े कष्ट की बात है । कोई चीज सुहावनी लगी, किसी के प्रति राग जगा और वह अपने अधिकार में हो गया, अपना बन गया, बड़े-बड़े प्रेम से मिल जुलकर रहने लगे तो यह स्थिति संतोष करने लायक नहीं है । यह महान क्लेश का कारण बनेगा, यह संसार ही महागर्त है । आत्मा का जो स्वभाव है स्थिर प्रतिभास, उस स्वभाव से चिगे कि सारी की सारी आपत्ति ही आपत्ति है ।

ज्ञानभाव में निरापदता—भैया ! निरापद तो ज्ञानस्वभाव है । इसको छोड़कर बाकी समस्त चीजें तो आपदा ही हैं । अनुभव करके देख लो । जब अपना उपयोग एक इस ज्ञानस्वभाव के स्वरूप के जानने में रहता है, निकट रहता है, इस ज्ञानभाव को अंगीकार करता हुआ जब हमारा उपयोग चलता है उस समय कितनी निर्विकल्पता रहती है, कितनी निराकुलता और शान्ति रहती है? जहाँ मेरा तेरा ऐसा विकल्प उठा और जिसे माना कि यह मेरा वैभव है, वैभव में सन्तोष किया, उसका ही संग्रह बनाये रहने की वासना बनाई, ये सारे उपयोग आपत्ति हैं, समृद्धियां नहीं हैं, ये जीव के स्वरूप नहीं हैं, ये जीव के कलंक हैं । जिन बातों में बढ़कर हम अपने को चतुर मानते हैं वे सब चतुराई-चतुराई नहीं हैं, किन्तु जीव का कलंक हैं । चतुराई तो इस जीव की अपने स्वरूप का परिचय बनाये रहना है । एक ही निर्णय रखिये—एक निज शुद्ध आत्मतत्त्व का अनुभव ही हमारे लिए शरण है, सारभूत है, उसमें ही हमारा कल्याण निहित है । अन्य तो सब पर भाव हैं । इस प्रकरण से हमें यह शिक्षा लेनी है कि मे ज्ञानस्वरूप हूँ ज्ञान के सिवाय अन्य कुछ भी मेरे में नहीं है, ऐसा ही दृढ़ निर्णय बनाएँ जिससे मोह का विनाश हो और अपने अन्त: प्रभु के दर्शन हों ।

गाथा ५०

समवत्ती समवाओ अपुधब्भूदो य अजुदसिद्धो य ।
तम्हा दव्वगुणाणं अजुदा सिद्धित्ति णिद्दिट्ठा ।।५०।।

गुणी में गुण के तादात्म्य का समर्थन—गत गाथावों में इस प्रकरण में यह बताया गया था कि आत्मा ज्ञान से अनन्य है । आत्मा ज्ञानमय है । इसके विरोध में कुछ दार्शनिकों ने अपनी युक्ति रखी । आत्मा और ज्ञान भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं । उनका संयोग होता है तब आत्मा जानता है । इसमें आपत्ति देने के पश्चात् फिर यह कहा गया कि आत्मा और ज्ञान में संयोग सम्बंध तो नहीं है, किन्तु समवाय सम्बंध है । जैसे घड़े में रूप का समवाय है, रस का समवाय है, ऐसे ही आत्मा में ज्ञान का समवाय है । समवाय सम्बंध अपृथक्, अभेद में होता है और वह अयुतसिद्ध में माना जाता है ।

संयोगसम्बन्ध व समवायसम्बंध में अन्तर—भिन्न-भिन्न पदार्थों में जो सम्बंध बना, उसका नाम है संयोग सम्बंध और उसमें संयोग के काल में भी वे पृथक्-पृथक् सिद्ध हैं, किन्तु समवाय में जिसका समवाय कहा जाता है वह पृथक्भूत नहीं होता है, वह एक होता है । जब यह बात है तब सीधा ही कह लो ना कि द्रव्य और गुण अभिन्न हैं । अभिन्न तत्त्व को भिन्न बनाकर अभिन्न जैसा बनाने की कसरत क्यों की जा रही है? इससे तो यह सिद्ध हुआ कि द्रव्य गुण का परस्पर में अभेद है, वे एक ही हैं । केवल व्यपदेश आदिक के व्यवहार से भेद का व्यवहार चलता है ।

समवाय का स्वरूप—समवाय नाम है समवर्तित्व का । समवर्तीपने को समवाय कहते हैं । समवर्तीपने का अर्थ है सहवर्ती। जब से आत्मा है तब से ज्ञान है और जब तक आत्मा है तब तक ज्ञान है । जबसे का अर्थ है अनादि से और जब तक का अर्थ है अनन्तकाल तक । शाश्वत यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है । द्रव्य और गुण का एक अस्तित्व से रचा जाना, यही सहवृत्ति है । पदार्थ व पदार्थ का

स्वभाव ये दोनों सहवर्ती हैं, अनादि अनन्त हैं और यही समवाय है । जैन सिद्धांत में इसी को समवाय कह लो और अन्य दार्शनिक भी अन्ततोगत्वा यही मानकर रहते हैं ।

अनन्यस्वभाव की प्रतीति—वही एक वस्तु व उसका स्वभाव वस्तुत्व से यद्यपि अभिन्न है तो भी संज्ञा प्रयोजनादि के भेद से भेदव्यवहार में आता है, और भेदव्यवहार किये जाने पर भी वास्तव में वह अभिन्न है, एक है । यह कथन बहुत समय से चल रहा है, और कोई भाई सुनते-सुनते ऊब भी गये होंगे, ऐसा यह कथन बहुत लम्बा क्यों चलाया जा रहा है और करीब-करीब बारबार वही-वही कथन है । ठीक है, मगर अपने को धनी मानने की अथवा कुटुम्बवान मानने की जो भीतर में बार-बार प्रतीति बन रही है जो कि मायारूप है, उससे तो नहीं ऊबते, यह तो परमार्थ निज ज्ञानस्वरूप की प्रतीति की बात है । इसमें क्यों ऊब आये ? वह तो भारी गलती है जो अपने को वैभवशाली, धनी माना जा रहा है । अरे वे तो अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं । उनमें क्यों इतनी धुन बनायी जा रही है? उस भूलभरी धुन को काटने के लिए यह ज्ञान की अनन्यता की प्रतीति समर्थ है । मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञानमय हूँ, अन्यरूप नहीं । यही समवाय है, तादात्म्य है ।

गुण व गुणी की अविभक्तप्रदेशता—जैसे इन दो अंगुलियों के परस्पर का जो मिलाप होता है उसका नाम तो संयोग है, और उस ही अंगुली में जो रूप का सम्बंध है, जो भी इसमें रंग है, जो गंध का सम्बंध है यह समवाय सम्बंध है । कहीं अंगुली अलग हो और उसका रंग-अलग पड़ा हो ऐसा देखा है क्या? तो जैसे अंगुली में रूप का समवाय सम्बंध है इस ही प्रकार इस आत्मा में ज्ञान का समवाय सम्बंध है । कल्पना में गुणगुणी का भेद कर के फिर उसको अभिन्न बताने का जो उपाय है उस ही का नाम समवाय कथन है । वह समवाय युतसिद्ध में नही बनता । पृथक् सिद्ध हो उसमें समवाय सम्बंध नहीं बताया जाता । समवाय तो अपृथक् वस्तु को जताने का कारण होता है । द्रव्य और गुण ये सहवर्ती हैं, तदात्मा हैं, ऐसी समवाय वाली बात तो मान लो, पर आत्मा पृथक् है, ज्ञान पृथक् है, इनके समवाय सम्बंध के कारण यह आत्मा ज्ञान किया करता है, यह अटपट बात यहाँ मानने योग्य नहीं है ।

ज्ञानादि गुणों के तादात्म्य का वर्णन—इस अंतराधिकार में सर्वप्रथम बताया गया था कि ८-९ अधिकारों से जीवतत्त्व का वर्णन किया जायगा, उसमें यह तीसरा अधिकार है । जीव है और यह चेतयिता है इन दो अंतराधिकारों के बताने के बाद यह उपयोग विशेषित है ऐसा यह तीसरा अंतराधिकार चल रहा है । इसमें उपयोग को आत्मा से अभिन्न बताया गया है । इस व्याख्यान में जीव का ज्ञानगुण के साथ अनादि काल से तादात्म्य सम्बन्ध कहा गया है और जैसे ज्ञान का आत्मा से तादात्म्य है इस ही प्रकार दर्शन का आनन्द का भी तादात्म्य है । जो अव्याबाध रूप स्वयं है, रागादिक दोषों से रहित है, उत्कृष्ट आनन्द का एक स्वभाव है ऐसे आनन्द आदिक अनन्तगुण भी इस आत्मा के साथ तादात्म्यपने को प्राप्त हैं ।

आत्मप्रतीति—भैया ! अपने आत्मा को अपने गुणों से ही अभिन्न रूप से श्रद्धान करना चाहिए, ज्ञान करना चाहिए और समस्त रागादिक विकल्प व्यापार का त्याग करते हुए निरन्तर ध्यान करना चाहिए । हम अपने आपके सहजस्वरूप के ध्यान के प्रताप से ही निराकुल रह सकेंगे । इस लोक में बाहर कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो हमें निराकुलता का कारण बने । उसका कारण यह है कि सभी परद्रव्य हैं, उनका परिणमन उनमें उनके अनुकूल होता है, उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है । जैसा मैं चाहूं तैसा बाह्य में परिणमन हो ऐसा हो नहीं सकता और अनुकूल परिणमन होता नहीं तब यह जीव दुःखी हुआ करता है? किसी भी बाह्यवस्तु से घनिष्टता करने में निराकुलता उत्पन्न नहीं हो सकती है । एक अपने आपके आत्मस्वरूप में बसे हुए इस शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव की उपासना करने में ही हम आपका कल्याण है ।

गाथा ५१-५२

वण्णरसगंधफासा परमाणुपरूविदा विसेसेहिं ।

दव्वादो य अणण्णा अण्णत्तपगासगा होंति ।।५१।।
दंसणणाणाणि तहा जीवणिबद्धाणि णण्णभूदाणि ।
ववदेसदो पुधत्तं कुव्वंति हि णो सभावादो ।।५२।।

दृष्टान्तपूर्वक गुणगुणी के तादात्म्य व पृथक्त्व का वर्णन—इन दो गाथावों में द्रव्य और गुण का कथंचित् भेद बताया जा रहा है । जैसे कि पहले बताया था, उसके उपसंहार रूप में ये दो गाथाएँ हैं । वर्ण, रस, गंध और स्पर्श ये सब परमाणु पुद्गल की विशेष सहभावी शक्तियाँ हैं और परमाणु द्रव्य और उनसे अभिन्न हैं । लोक में जो यह कहने की पद्धति है कि अमुक में काला, अमुक में नीला, अमुक में लाल रंग है, अमुक भोजन मीठा, अमुक खट्टा है, यह जो भेद-व्यवहार किया जाता है वह प्रयोजनवश किया जा रहा है । वस्तुत: पुद्गल जिस काल में जैसी परिणतिरूप है वैसी परिणतिरूप है । वहाँ विशेष और सद्द्रव्य का भेद नहीं है । ये चार पुद्गल द्रव्य में गुण हैं—वर्ण, रस, गंध, स्पर्श ।

रूपगुण का विवरण—वर्ण नाम है रूप का—काला, पीला, नीला, लाल, सफेद, ये ५ प्रकार के वर्ण होते हैं । वर्ण नाम की जो शक्ति है वह तो पुद्गल में एक शाश्वतरूप है । उस वर्ण शक्ति की जो व्यक्तियाँ हैं, परिणतियाँ हैं वे ५ प्रकार की हैं । ये ५ प्रकार संक्षेप में बताये हैं । वैसे तो इनके भी अनेक भेद हो जाते हैं । कोई कम काला, कोई अधिक काला, कोई कम पीला, कोई अधिक पीला, कोई कम नीला, कोई अधिक नीला यों अनेक भेद हो जाते हैं । इन रंगों के मेल से भी अनेक प्रकार के रंग बन जाते हैं । हरे रंग का नाम इन ५ में नहीं है । नीला और पीला मिलकर हरा बन जाता है । किसी की यह भी कल्पना है कि हवा का रंग नीला है और पृथ्वी का पीला तो बीज में से जो अंकुर निकलता है वह इसी से हरा निकलता है उसमें भी प्रथम तो पीला, फिर हवा लगने से हरा हो जाता है । खैर कुछ भी हो, हरे रंग की शुमार मुख्य रंगों में नहीं है, वह दो रंगों से मिलकर बनता है । इसी तरह सुवापंखी, केसरिया आदि रंग भी तो रंगों के मेल से बना करते हैं । तो वर्ण शक्ति की अनेक पर्यायें हैं ।

रस व गन्ध गुण का विवरण—ऐसे ही रस की भी अनेक पर्यायें हैं । संक्षेप में तो ये ५ प्रकार हैं—खट्टा, कडुवा, मीठा, तीखा और कषैला । चरपरा कहने से तीखा कहना अधिक ठीक बैठेगा, क्योंकि उसमें चरपरी चीज भी आ गयी और खारी चीज भी खा गयी । इन ५ रसों के भी बहुत भेद हैं, कोई कम मीठा, कोई अधिक मीठा, कोई कम खट्टा, कोई अधिक खट्टा इत्यादि । तो यों रसों के भी अनेक भेद हो जाते हैं । ये व्यक्त जितने रस हैं वे पर्यायें हैं और उन रस परिणमनों का जो मूल आधार है वह है रस शक्ति, रस गुण । इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य में एक गंध शक्ति होती है, जिसके प्रकटरूप दो होते हैं—सुगंध और दुर्गन्ध । इसमें भी अनेक तीव्र मंद के भेद से भेद हैं । कम सुगंध, अधिक सुगंध आदिक ।

स्पर्श गुण का विवरण—स्पर्श नाम की एक शक्ति है । यह स्पर्श स्पर्शनइन्द्रिय के द्वारा जाना जाता है इसलिए इसे स्पर्श शक्ति कहते हैं, पर मूल में पदार्थों में दो प्रकार की शक्ति स्पर्श सम्बन्धी पड़ी है । एक शक्ति का तो ठंड गर्मी इन दो में से किसी एक रूप परिणमन होता है । पुद्गल द्रव्य में वस्तुत: चार स्पर्श होते हैं । किन्तु पुद्गल में जब स्कंध बनता है तो इन स्कंधों में चार व्यवहार और चलने लगते हैं—हल्का, भारी, नरम और कठोर । ये चार पुद्गलद्रव्य में मूल शक्ति से उठे हुए गुण नहीं हैं, किन्तु पुद्गल का जब पिंड बनता है तब इसमें ये चार बातें और प्रकट होने लगती हैं ।

गुणगुणी की अपृथक्ता—जिस प्रकार ये वर्ण आदिक परिणमन परिणमनकाल में पुद्गल में तन्मय हैं, और इनकी मूल आधारभूत जो चार प्रकार की शक्तियाँ हैं वे पुद्गल में शाश्वत तन्मय हैं, द्रव्य में तन्मय हैं । ये द्रव्य की इस तन्मयता का प्रकाश करने वाले हैं । इसी प्रकार से जीव में दर्शन ज्ञानादिक गुण भी जीव में शाश्वत अभिन्न हैं । केवल नाम आदिक प्रयोजन से भेद किया जाता है, पर स्वभाव से भेद नहीं है । जैसे परमाणु का और वर्णादिक का प्रदेश अविभक्त है, ऐसे ही आत्मा और ज्ञान अविभक्तप्रदेशी हैं । ऐसा नहीं है कि परमाणु अन्य प्रदेशों में रह रहा हो और ये वर्ण आदिक अन्य प्रदेश में रह रहे हों । ये

गुण तो प्रदेश में कीलित हैं, अनादि सिद्ध हैं, इनका यह स्वरूप ही है, अग्नि से गर्मी निकालकर लावो यदि कहीं मिल जाय तो । यदि आप बुझाकर कोयला ले आयें तो आप अग्नि कहा लाये, कोयला ले आये । तो जैसे परमाणु में वर्ण रस आदिक गुण अभिन्न हैं, केवल एक विवक्षा और व्यपदेश से उनमें भिन्नता का प्रकाश होता है, इसी प्रकार ज्ञान दर्शन भी आत्मा में अविभक्त हैं? जो प्रदेश आत्मा का है वही प्रदेश ज्ञान का है । फिर तो संज्ञा आदिक विशेषों से उनमें पृथक्त्व वर्णित किया जाता है । स्वभाव से वह हमेशा अपृथक् स्वभाव वाला है ।

ज्ञानगुण की प्रधानता—वस्तुत: आत्मा ज्ञानस्वरूप है । ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है । इस आत्मा का जितना व्यवहार चलता है, जो पुरुषार्थ और कर्तव्य चलता है वह ज्ञान के माध्यम से ही चलता है । इसी कारण यह आत्मा करता क्या है, ऐसा प्रश्न होने पर सीधा यही उत्तर मिलता है कि यह जानता है । ज्ञानगुण आत्मा का एक असाधारण गुण है । चैतन्य के नाते यद्यपि आत्मा में दर्शनगुण भी है और चैतन्य की अविनाभाविता में आत्मा में आनन्दगुण भी है, फिर भी सब गुणों की व्यवस्था बताने वाला, अन्य गुण का सद्भाव बताने वाला, अपने हित और अहितरूप विवरण करने वाला ज्ञानगुण ही है, इस कारण सर्वगुणों में प्रधान आत्मा का यह ज्ञानगुण है, इस ज्ञानगुण से इस ज्ञानस्वरूप की जानकारी रखी जाय तो चूंकि ज्ञाता भी ज्ञान बना और ज्ञेय भी ज्ञान बना तो वह कर्ता कर्म में अभिन्न बन जाता है, एकरस हो जाता है । फिर वहाँ विकल्पों का अवकाश नहीं रहता और ऐसे विकल्पों के अनवकाश के समय इस आत्मा को ज्ञानानुभूति प्रकट होती है ।

धर्मपालन के लिये कर्तव्य—धर्म के लिए क्या करना है? यह ज्ञानी जानता तो निरंतर है, कभी किसी को जाने, कभी किसी को जाने। तो तुम यह निर्णय कर लो कि हम जाने बिना तो कभी रहते नहीं, जाने बिना कोई काम नहीं होता, रोजिगार नहीं होता । सारे दिन रात बेकार रहें, ढलुवा जैसे पड़े रहें, घर के किसी कोने में एक जगह बैठे रहें । कोई पूछे क्यों भाई कैसे बैठे हो? अरे बेकार बैठे हैं, काम ही नहीं है, मगर भीतर में देखो यह काम बराबर प्रतिसमय करता ही जा रहा है । जाने बिना तो जीव रह ही नहीं सकता । कुछ न कुछ जरूर जानेगा । अब यह निर्णय कर लो कि हम कैसी चीज जाना करें, किस चीज के जानने में अधिक देर रहा करें जिससे हमारा कल्याण हो, पवित्रता हो, कर्मबन्धन से मुक्ति हो, संसार के संकटों से छूट जायें? ऐसा कौन-सा पदार्थ है जिस पदार्थ के जानने से हमारे समस्त क्लेश दूर हो जायें? यह निर्णय कर लो । निर्णय करने में विलम्ब न लगेगा, क्योंकि जिसके ज्ञान से हित नहीं है, जिन पदार्थों में राग करने से हित नहीं है, उन पदार्थों से राग कर-करके तबीयत बहुत कुछ ठिकाने आ गयी है और उससे ऊब भी बहुत-बहुत बार आ चुकी है, इस कारण अहित की चीज से हटने की बात समझने में विलम्ब न लगना चाहिए । तो ये बाह्यपदार्थ ज्ञान के आलम्बन के योग्य नहीं हैं । एक अपना अनादि सिद्ध शुद्ध चैतन्यस्वभाव ही अपने ज्ञान के द्वारा आलम्बन करने योग्य है । ज्ञान, ज्ञान को जानता रहे, यही धर्मपालन है ।

निश्चयधर्म की पात्रता के लिये व्यवहारधर्म की उपयोगिता—भैया ! जितने भी धर्म के नाम पर व्यवहार किये जाते हैं वे सब व्यवहारधर्म हैं । व्यवहारधर्म का लक्ष्य यही है कि हमारी ऐसी स्थिति बन जाय कि यह ज्ञान इस ज्ञानस्वरूप को ही जानता रहे, अन्य पदार्थों के जानने का श्रम और विकल्प न करे । उस ही में निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है, उससे ही वीतराग सहज आनन्द जगता है और सहज परमशुद्ध आनन्द जगता है । यही इस जीव का सर्वोत्कृष्ट वैभव है । इस कारण हमें प्रयत्न करके अपने आपके स्वरूप की जानकारी का ही उद्यम करना चाहिए।

।। पंचास्तिकाय प्रवचन द्वितीय भाग समाप्त ।।